❀ श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः ❀

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।
धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेन कथासु यः
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मासुप्रसीदति ॥

श्रीभागवत-पत्रिका

सर्वोत्कृष्ट धर्म है वह जो आत्मा को आनन्द प्रदायक ।
भक्ति अधोक्षज की अहैतुकी विघ्नशून्य अति मंगलदायक ॥

सब धर्मों का श्रेष्ठ रीति से पालन करते जीव निरन्तर ।
किन्तु हरि-कथा-प्रीति न हो,श्रम व्यर्थ सभी,केवल बंधनकर॥

वर्ष ५ | गौराब्द ४७३, मास—केशव ३०, वार—प्रद्युम्न मङ्गलवार, २८ अग्रहायण, सम्वत् २०१६, १५ दिसम्बर | संख्या ६-७

श्रीयमुनाष्टकम्

[श्रीमद्-रूप-गोस्वाति-विरचितम्]

श्रीयमुनायै नमः

प्रातुरन्तकस्य पत्तनेऽभिपत्ति-हारिणी प्रेक्षयाति-पापिनोऽपि पापसिन्धु-तारिणी ।
नीर-माधुरीभिरप्यशेष-चित्त-वन्दिनी मां पुनातु सर्वदारविन्दवन्धु-नन्दिनी ॥१॥

हारि-वारि-धारयाऽभिमण्डितोरु-खाण्डवा पुण्डरीक-मण्डलोच्चदण्डजालि-ताण्डवा ।
स्नान काम-पामरोग्र-पापसम्पदन्धिनी मां पुनातु सर्वदारविन्दवन्धु-नन्दिनी ॥२॥

शीकराभिसृष्ट जन्तु-दुर्विपाक-मर्दिनी नन्दनन्दनान्तरङ्ग-भक्तिपूर-वर्द्धिनी ।
तीर-सङ्गमाभिलाषि-मङ्गलानुवर्द्धिनी मां पुनातु सर्वदारविन्दवन्धु-नन्दिनी ॥३॥

द्वीपचक्रवाल जुष्ट-सप्तसिन्धु भेदिनी श्रीमुकुन्द-निर्मितोरु-दिव्यकेलि-वेदिनी ।
कान्ति-कन्दलीभिरिन्द्रनीलवृन्द-निन्दिनी मां पुनातु सर्वदारविन्दवन्धु-नन्दिनी ॥४॥

माधुरेण मण्डलेन चारुनाभिमण्डिता प्रेमनद्ध-दैव्यवाध्व-वर्द्धनाय पण्डिता ।
ऊर्मि-दोर्विलास पद्मनाभ-पाद-वन्दिनी मां पुनातु सर्वदारविन्दवन्धु-नन्दिनी ॥५॥

रम्यतीर रम्भमाण-गोकदम्ब-भूषिता दिव्यगन्धभाक्कदम्ब-पुष्पराज-रुचिता ।
नंदसूनु-भक्तसंघ-सङ्गमाभिनन्दिनी मां पुनातु सर्वदारविन्दबन्धु-नन्दिनी ॥६॥
फुल्लपद्म-मल्लिकाख-हंसलङ्घ-कूजिता भक्तिसिद्ध-देव-सिद्ध-किन्नरालि पूजिता ।
तीर-गन्धवाह-गन्ध जन्मबन्ध-रन्धिनी मां पुनातु सर्वदारविन्दबन्धु नन्दिनी ॥७॥
चिद्विलास- वारिपूर-भूभुवः—स्वरापिणी कर्त्तितापि दुर्म्मदोरु-पापमर्म-तापिनी ।
वल्लवेन्द्र नन्दनाङ्गराग-भङ्ग गन्धिनी मां पुनातु सर्वदारविन्दबन्धु-नन्दिनी ॥८॥
तुष्टबुद्धिरष्टकेन निर्मलोर्मि-चेष्टितां स्वामनेन भानुपुत्रि सर्वदैव वेष्टितम् ।
यः स्तवीति बद्धयस्य सर्वपाप-मोचने भक्तिपूरमस्य देवि पुण्डरीक लोचने ॥९॥

अनुवाद—

जो अपने पवित्र दर्शनोंसे ही बड़े-से-बड़े पातकियोंको भी पापसमुद्रसे उबार कर उन्हें अपने अग्रज यमराजकी पुरीकी ओर जानेसे रोक लेती हैं, जो अपने मधुरातिमधुर जलसे देवता और मनुष्योंके अन्तःकरणको अपने वशमें कर लेती हैं, वे कमल-बन्धु भानु-नन्दिनी श्रीयमुनादेवी मुझे सदा-सर्वदा पवित्र करती रहे ॥१॥

जो अपने मनोहर वारि-प्रवाहसे इन्द्रके प्रकांड खाण्डव वनको विशेष रूपसे सुशोभित करती हैं, जिनके शुभ्र कमलके पुष्पोंपर खंजन आदि पक्षियोंकी श्रेणियाँ बड़े आनन्दसे नृत्य करती हैं, उनमें स्नान करने वालोंकी तो बात ही अलग रहे, स्नान करनेकी इच्छा रखनेवालोंकी पाप-राशिको जो अत्यन्त शीघ्र ही नष्ट कर डालती है, वे कमल-बन्धु भानु-नन्दिनी श्रीयमुना देवी मुझे सदा-सर्वदा पवित्र करती रहे ॥२॥

जो अपने जल-कणोंसे स्पर्श पाये हुए प्राणियोंके पापोंको नष्टकर उनके हृदयमें श्रीकृष्णकी रागात्मिका -भक्ति (प्रेम-भक्ति) का प्रवाह बहाती हैं एवं जो अपने तटपर निवास करनेकी इच्छा रखने वाले व्यक्तियोंका भी परम-कल्याण करती हैं, वे रवि-सुता श्रीयमुनादेवी मुझे सदा-सर्वदा पवित्र करें ॥३॥

जो सप्त-द्वीप-सेवित सप्त-सागरोंको भेद करनेवाली हैं अर्थात उनका संग प्राप्त हुई हैं, जो श्रीमुकुन्द द्वारा प्रकटित सर्वोत्तम केलि-समूहको जाननेवाली हैं, जो अपनी दिव्योज्जल कान्तिके प्रभावसे इन्द्रनील-मणिकी कान्तिको भी मात करती हैं, वे आदित्य-तनया यमुनादेवी मुझे सदा-सर्वदा पवित्र करें ॥४॥

जो मनोहर मथुरा मण्डलद्वारा सुशोभित होकर परम शोभाका विस्तार करती हैं, जो प्रेमी भक्तोंकी विशुद्ध रागानुगा भक्तिको बढ़ानेवाली हैं एवं जो अपने तरङ्गरूप दोनों हाथोंके द्वारा श्रीकृष्णके चरण-कमलोंकी सदा वन्दना करती रहती हैं, वे सूर्य-तनया श्रीयमुनादेवी मुझे सदा-सर्वदा पवित्र करें ॥५॥

अति रमणीय दोनों तटों पर 'हम्बा'-ध्वनि करते हुए गोवत्सों द्वारा जिनकी शोभा और भी उत्कर्षता प्राप्त होती है और जो कदम्बके पुष्पोंकी दिव्य-गन्धसे अतिशय आमोदित रहती हैं, श्रीकृष्णके भक्तोंसे मिलकर जिनको परम आनन्द होता है, वे दिवाकर-नन्दिनी श्रीयमुनादेवी सदा-सर्वदा मुझे पवित्र करें ॥६॥

आनन्दमें भरकर अपने पंखोंको फैलाये हुए, मलीन चोंच और चरणवाले राजहंसोंके मनोहर कलरवसे जो प्रतिध्वनित होती रहती हैं, भक्तिके प्रति आकृष्ट देवता, सिद्ध और किन्नर आदि शरीरधारियों के अधिश्वरगण भी अपने-अपने युथों द्वारा घिरकर जिनकी निरन्तर पूजा करते हैं एवं जो अपने दोनों तटोंपर सुन्दर गंधवाही परिमल द्वारा प्राणियोंके जन्म

-मरणके बन्धनको दूर करती हैं, वे भास्कर-दुहिता श्रीयमुनादेवी मुझे सर्वदा पवित्र करें ॥७॥

चिद्विलास अर्थात् तदात्मक वारि प्रवाह द्वारा जो 'भूः-भुवः-स्वर'—इन तीनों लोकोंमें व्याप्त हैं,-इसलिये जो 'ब्रह्मविद्या'के नामसे प्रसिद्ध हैं, अपना नाम उच्चारण करनेसे भी जो उच्चारणकारीकी अत्यन्त भयानक पापराशिका जड़से ध्वंस कर देती हैं, व्रजराजनन्दन श्रीकृष्णकी जल-क्रीड़ाके कारण उनके अङ्गोंसे धुले हुए कुंकुमादि अनुलेपोंकी सुगन्धि से जो सुरभिता हैं, वे सूर्य-तनया श्रीयमुनादेवी मुझे सदा-सर्वदा पवित्र करें ॥८॥

हे सर्वपापमोचनकारणी ! हे भानुपुत्रि ! पवित्र तरङ्गमालाओंका विस्तार करनेके लिये ही तुम्हारी चेष्टा है। तुम समस्त देवताओंकी आश्रय-स्वरूपा हो। जो प्रसन्न चित्तसे इस अष्टकका पाठ कर तुम्हारा स्तव करते हैं, तुम कमलनयन श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें उनके भक्ति-प्रवाहके वेगको और भी अधिक तेज कर देती हो ॥९॥

संत (सज्जन) के लक्षण

अप्रमत्त--१८

किसी विषयमें अत्यन्त अधिक मत्त हुए विषयी-को 'प्रमत्त' कहते हैं। कृष्णेतर विषयोंके प्रति आकृष्ट होकर बद्धजीव प्रायः प्रमत्त बन जाया करते हैं। निर्विषयी किसी भी जड़ विषयमें प्रमत्त नहीं होते। अतएव जड़-विषयोंके प्रति उदासीन एवं श्री-कृष्णके प्रति उन्मुख व्यक्ति ही अप्रमत्त कहलाते हैं। संतजन ही एक मात्र अप्रमत्त हैं। विषयी मनुष्योंकी इन्द्रियाँ सर्वदा जड़ीय रूप-रस आदि विषयोंके पीछे-पीछे दौड़ती रहती हैं। इसलिये वे भोगोंको भोगने-में ही प्रमत्त हो पड़ते हैं। धीरे धीरे काम, क्रोध, लोभ, मोह और मद उस विषयी मनुष्यका सर्वनाश कर डालते हैं। परन्तु कृष्णैकशरण भगवद्भक्तजन कृष्णसेवामें निरन्तर प्रमत्त रहनेके कारण बाह्य जड़ीय विषयोंके प्रति सर्वथा अप्रमत्त होते हैं।

जीव कृष्णको भूल कर कभी निर्भेद ब्रह्मका अनुसंधान करता है, तो कभी भोगोंको भोगनेके लिये चौदहों लोकोंके भिन्न-भिन्न भोगमय राज्योंमें भटकता फिरता है। इसप्रकार जबतक कृष्ण दया कर उसे अपने प्रति आकर्षण नहीं कर लेते, तब तक वह कृष्णेतर विषयोंमें ही प्रमत्त रहता है।

कभी-कभी जीव नाना-प्रकारके मादक-द्रव्योंका सेवन कर हरि-विमुख जीवन व्यतीत करता है। अफीम, गाँजा, भाँग, नस्य,तम्बाकू, पान, बीड़ी-सिगरेट, चाय और मद्य आदिका सेवन करनेसे सज्जन होनेका पथ बन्द हो जाता है। ऐसे लोग भगवान या भगवत् प्रसादसे इन नशीली वस्तुओंका अधिक आदर करते हैं। कृष्णके सिवा किसी भी दूसरे विषयमें मत्त होना प्रमत्तताका लक्षण है।

मूल तात्पर्य यह है कि संत (सज्जन) व्यक्ति किसी भी कृष्णेत्तर विषयमें अनुरक्त नहीं होते। वे नित्यकाल अप्रमत्त रहकर हरिसेवा करते हैं।

मानद--१९

'मानद'-शब्दसे मानदाता और मानग्रहीता दोनों का और उनमें परस्पर मानके आदान-प्रदानका बोध होता है। वैष्णवजन मानद होते है—ऐसा कहनेसे वैष्णवोंकी मानदातृत्व और मानग्रहीताकी वैष्णवोंके

निकट मान-ग्रहण-क्रियाका बोध होता है। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो वैष्णवजनोंसे मान ग्रहण करने वाले व्यक्तियोंको 'वैष्णव' कहना अनुचित प्रतीत होगा। वैष्णवोंके निकट मान ग्रहण करनेका दुस्साहस केवल अवैष्णवोंको ही हो सकता है। क्योंकि वैष्णवजन मानद-धर्मसे युक्त होनेके कारण जब एक वैष्णव दूसरे वैष्णवको मान देता है, तब दूसरा भी पहले वैष्णवको मान प्रदान करता है। परन्तु अवैष्णव व्यक्ति वैष्णवोंद्वारा दिये गये मानको ग्रहण कर मानदाता वैष्णवको मान प्रदान नहीं कर सकते हैं। साधारणतः अवैष्णवोंके स्वभावमें मानदातृत्व-धर्मका अभाव होता है।

वैष्णवके मानद-धर्मका असज्जन पुरुषों द्वारा अपव्यवहार

मान दो प्रकारका होता है—प्राकृत और अप्राकृत। यदि अवैष्णव मान ग्रहण करे, तो वह अप्राकृत नहीं हो सकता। अतएव जो लोग वैष्णवोंसे मान-प्रतिष्ठा ग्रहण करनेकी लालसा रखते हैं, वे निश्चय ही अवैष्णव या असज्जन हैं। वैष्णव सब समय दूसरोंको मान देनेके लिये प्रस्तुत रहता है। एक वैष्णव दूसरे वैष्णवसे मान प्राप्त होकर वह दूसरेको भी मान देता है। परन्तु अवैष्णव लोग वैष्णवोंसे मान ग्रहण कर स्वयं हजम कर जाते हैं और उसे प्रत्यार्पण करना तो दूर रहे, उस प्राप्त मानसे अपनेको बहुत बड़ा आदमी समझ कर अपना सर्वनाश कर डालते हैं। आजकल अवैष्णव समाज किस प्रकार वैष्णवोंसे मान ग्रहण कर अपराधरूपी समुद्रमें डूबा जा रहा है, उसे प्रत्येक बुद्धिमान व्यक्ति सहज ही देख सकता है। वैष्णव सज्जनोंकी अत्यन्त उच्च पदवीको आजका बहिर्मुख समाज अत्यन्त हीन रूपसे देखता है। फलस्वरूप उसका अधःपतन भी अनिवार्य होता है।

मूर्ख अवैष्णवगन परमहंस वैष्णवको शूद्रतुल्य दर्शन करते हैं और उस अपराधसे नरकगामी होते हैं। दूसरी तरफ वर्णाश्रमधर्ममें विशृङ्खला फैलाने-वाले दुर्नीतिपरायण मूर्ख शूद्र और चण्डाल आदि अवैष्णवजन अपनेको परमहंस-वैष्णव मान कर अभिमानपूर्वक ब्राह्मणसे भी अपनेको श्रेष्ठ मानते हैं। ये लोग परमहंस धर्मको वर्णाश्रमसे हीन समझते हैं तथा परमहंस वैष्णवको वर्णाश्रमधर्मका विशृङ्खल-कारी, स्वेच्छाचारी और घृणित समझ कर उनका अनादर करते हैं तथा उन्हें वर्णाश्रमधर्मके अन्दर लानेका प्रयत्न करते हैं। परमहंस वैष्णव बहुधा अपनेको दीन-हीन और नीच वर्णका बतलाते हैं एवं कभी-कभी ऐसा भी कहते हैं कि मैं वैष्णव नहीं हूँ; वैष्णवगण इससे उनकी श्रेष्ठताका ही परिचय पाते हैं, परन्तु अवैष्णव लोग वंचित होते हैं।

श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने जीवोंको शिक्षा देनेके लिये ब्राह्मण कुलमें जन्म लेकर संन्यास ग्रहण किया था। उनके आचरणमें वर्णाश्रमके प्रति कहीं भी अनादरका भाव नहीं पाया जाता—ऐसा समझकर परमहंस वैष्णवधर्मको वर्णाश्रमधर्मसे हेय मानना उचित नहीं है। उन्होंने वर्णाश्रममें स्थित रह कर भी ऐसा कहा है—

नाहं विप्रो न च नरपतिर्नापि वैश्यो न शूद्रो
नाहं वार्णी न च गृहपतिर्नो वनस्थो यतिर्वा।
किन्तु प्रोद्यन्निखिल-परमानन्दपूर्णामृताब्धे-
र्गोपीभर्तुः पदकमलयोर्दासानुदासः॥

श्रीचैतन्य महाप्रभुकी शिक्षा यह है कि जीव न तो वर्णके अन्तर्गत ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र है और न आश्रमान्तर्गत संन्यासी, ब्रह्मचारी और गृहस्थ आदि ही है, वह तो विशुद्धरूपमें भगवानका दास—उनके दासोंका दास अनुदास है। उन्होंने कहीं भी यह नहीं कहा है कि शूद्र और गृहस्थ होना ही सर्वोत्तम है और जीव इसके लिये भगवानसे प्रार्थना करे। वरन् उन्होंने इन मायिक अहङ्कारोंको छोड़ कर शुद्ध भगवद्दास्य ही जीवोंके लिये चरम प्रार्थनीय बतलाया है।

श्रीरघुनाथदास गोस्वामीने अपनेको परमहंस वैष्णवोंका दास अभिमान करके भी संन्यासी और

ब्राह्मणको मान दिया है। मनःशिक्षामें उन्होंने भूसुर—ब्राह्मणके प्रति दंभहीन होकर प्रीति करनेका ही उपदेश दिया है। यही वैष्णवका मानद धर्म है। दूसरी ओर श्रीरसिकानन्द देव श्रीश्यामानन्द प्रभु द्वारा दिये गये यज्ञसूत्रको धारण करके मानद हैं। श्रीश्रीनरोत्तम ठाकुर महाशय ब्राह्मणकुलमें उत्पन्न व्यक्तियोंको शिष्य करके भी मानद ही हैं। अम्बरीष महाराज अपने पैर पकड़ने वाले दुर्वासा ऋषिको भी मान देनेमें विमुख नहीं हुए। यदि गुरुदेव द्वारा दिये हुए यज्ञ-सूत्रादि मानदधर्मके विपरीत होते तो परम-भागवतजन उन्हें कदापि ग्रहण नहीं करते। सूत्र-प्रदाता गुरुकी अवज्ञा करने पर वैष्णव कदापि मानदधर्मका पालन नहीं कर सकता।

विष्णुदीक्षा प्राप्त शिष्यको अब्राह्मण कह कर गुरुपदासीन वैष्णव मानद नहीं कहा जा सकता। यदि उसे अब्राह्मण माना जाता है तो 'यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं' एवं 'तथा दीक्षा-विधानेन द्विजत्वं जायते नृणां' आदि शास्त्रीय वचनोंकी अवज्ञा करनी हो जाती है। वैष्णवको क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, और तो क्या प्राकृत ब्राह्मण कहना भी उसे मान नहीं प्रदान करना है। जो गुरु शिष्यको दीक्षा प्रदान कर भी उसे ब्राह्मणसे हीन समझते हैं, वे मानद नहीं। उसी प्रकार जो शिष्य गुरुके दिये हुए वर्णाश्रम धर्मको स्वीकार नहीं करता, वह परमहंस वैष्णव बननेकी आशा रखते हुए भी उक्त अपराधसे मानदके बदले अवैष्णव हो जाता है। इसलिये वैष्णव मानद होंगे। बिना मानद हुए वैष्णव नहीं हुआ जा सकता। मानद होना वैष्णवका मुख्य लक्षण है।

—ॐविष्णुपाद श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर

सम्बन्ध विचार

(जड़, आत्मा और परमात्मामें परस्पर सम्बन्ध)

सारग्राही वैष्णव धर्म ही नित्यधर्म है। किसी मनुष्य अथवा किसी सम्प्रदायने इसे नहीं बनाया है। समयके अनुसार इस नित्यधर्मकी निर्मलताका अनुभव होता है। जिस प्रकार सूर्य सब समय समभावमें स्थित हैं; परन्तु दर्शकोंकी अवस्थाके अनुसार दोपहरमें अधिक उत्तापदायक और प्रकाशमान बोध होते हैं। उसी प्रकार निर्मल नित्यधर्म भी मानवकी उन्नत अवस्थामें अधिकतर निर्मल और उन्नत प्रतीत होता है। वास्तविक नित्यधर्म सब समय एकरूप होता है। यहाँ उसी नित्यधर्मका तत्त्व विचार करनेका प्रयास है।

सारग्राही-चूड़ामणि श्रीचैतन्य महाप्रभुने कहा है कि 'सम्प्रति मनुष्य मायाबद्ध होनेके कारण नित्य-धर्मको सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजन—इन तीन विषयोंमें विभक्त कर विचार करनेके लिये बाध्य हैं।' श्रीमन्महाप्रभुके इस उपदेशके अनुसार हम सम्बन्ध अभिधेय और प्रयोजन—इन तीनोंका पृथक्-पृथक् रूपमें विचार करेंगे।

सबसे पहले सम्बन्ध-विचार है। विचारक सर्व-प्रथम अपनी आत्माको लक्ष्य कर देखेंगे। अपनी आत्माके अस्तित्व द्वारा विषयका और दूसरे पदार्थोंका अस्तित्व सिद्ध होता है। विचारक ऐसा कह सकता है कि यदि मैं नहीं हूँ, तब कुछ भी नहीं है; क्योंकि मेरे अभावमें दूसरे पदार्थोंकी प्रतीति कैसे संभव हो सकती है? विचारक आत्म-प्रत्यय-वृत्ति द्वारा अपना अस्तित्व अनुभव कर पुनः अपनी आत्माकी क्षुद्रता

और पराधीनता लक्ष्य करता है। वह ज्यों ही अपनी आत्माके प्रति दृष्टिपात करता है,त्यों ही किसी विराट आत्माकी सहायताका अनुभव करता है। वह विराट आत्मा ही परमात्मा है। आत्मा और परमात्माकी स्थितिको आत्म-प्रत्यय-वृत्तिका प्रथम कार्य समझना चाहिए।

कुछ देर बाद ही विचारककी दृष्टि जड़ जगत्के ऊपर पड़ती है। उस समय वह तीन वस्तुओंको देख पाता है—आत्मा, परमात्मा और जड़ जगत्। जो आत्माकी उपलब्धि नहीं कर पाते, वे लोग अपनेको जड़ात्मक होनेका संदेह करते हैं। उनके विचारसे जड़ ही नित्य पदार्थ है एवं जड़से ही अनुलोम-विलोम पद्धति द्वारा चैतन्य (आत्मा) की उत्पत्ति होती है और अन्तमें अवस्थामें परिवर्त्तन होनेपर वह उत्पन्न चैतन्य पुनः अचैतन्य रूप जड़ हो पड़ता है। उनके इस प्रकारका सिद्धान्त करनेका कारण यह है कि वे चित् प्रवृत्तिकी अपेक्षा जड़-प्रवृत्तिके वशीभूत अधिक होते हैं। उनका जड़के प्रति जितना विश्वास होता है, उतना ज्ञानके प्रति नहीं। इसलिए उनकी आशा, प्रीति, उत्साह, भरोसा और विचार आदि सब कुछ जड़ाश्रित होता है।

खेदकी बात है कि उपरोक्त विचारकोंको समाधिस्थ पुरुषोंका व्यवहार दुःखदायी जान पड़ता है। उनके और हमारे विचारोंमें आकाश-पातालका भेद वर्त्तमान है। इसका कारण यह है कि वे लोग जिस वृत्तिसे अप्राकृत विषयका विचार करते हैं, हम वैसी वृत्ति द्वारा अप्राकृत-विषयका विचार करनेके विपक्ष-में हैं। वे युक्ति-वृत्तिके अधीन होते हैं। परन्तु युक्ति आत्मनिष्ठ विचारके सम्बन्धमें सर्वथा असमर्थ हैं। वह इस विषयमें नियुक्त होने पर कोई कार्य नहीं कर पाती है। अनुवीक्षण यंत्र (सूक्ष्म पदार्थोंको देखने-का वैज्ञानिक यंत्र) कानमें लगायेसे क्या होगा? माइक्रोफोन यन्त्र द्वारा क्या देखा जा सकता है? ठीक उसी प्रकार युक्ति यन्त्र द्वारा वैकुण्ठका दर्शन कैसे हो सकता है? जड़ जगतके विषय युक्ति-वृत्तिके अधीन हैं; परन्तु आत्मा—आत्म-वृत्तिके अतिरिक्त और किसी भी दूसरी वृत्ति द्वारा लक्षित नहीं होते। यदि युक्ति सुपथका अवलम्बन करे तो वह आत्म-विषयमें अपनी असमर्थता शीघ्र ही अनुभव कर सकती है। आत्मा ज्ञान-स्वरूप है, अतएव वह स्वप्रकाश और जड़का भी प्रकाशक है। जड़जात युक्ति-वृत्ति आत्माको कदापि प्रकाशित नहीं कर सकती है। इसलिये हम युक्तिवादियोंके जड़ सिद्धान्त पर न चल कर आत्म-दर्शन वृत्ति द्वारा आत्मा और पर-मात्माका दर्शन करेंगे एवं आत्मा और जड़के मध्यगत कुछ-कुछ युक्ति-यंत्रकी सहायता द्वारा जड़-जगत्के तत्त्वोंका विवेचन करेंगे।

आत्मा, परमात्मा और जड़—इन तीनों, विषयों-का पृथक्-पृथक् विचार होना आवश्यक है। श्री-रामानुजाचार्यने चित्, अचित् और ईश्वर—इन तीन नामोंसे इनका विशद विवेचन किया है। सम्बन्ध-विचारमें इन तीनों तत्त्वोंका विचार और सम्बन्ध निर्णय करना ही प्रयोजन है।

सांख्य लेखक कपिलाचार्यने प्रकृतिके तत्त्वोंकी संख्या २४ बतलायी है। जड़ या अचित् तत्त्वका विचार करनेके लिये कपिलके बतलाये हुए तत्त्वोंका विचार करना अपरिहार्य होता है। आधुनिक जड़-तत्त्वविद्-वैज्ञानिक पण्डित बड़े परिश्रमसे अपने नये-नये यन्त्रों द्वारा मूल भूत-समूह (पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि) आदिके नाम, धर्म और रासायनिक प्रवृत्तियोंका विशेष रूपसे आविष्कार करके लोगोंके प्राकृत ज्ञानको समृद्ध किये हैं और कर रहे हैं। उनके द्वारा आविष्कार किये हुए विषय-समूह विशेष आदरणीय हैं, क्योंकि इनसे जीवोंके परमार्थमें भी कुछ-कुछ सहायता मिलती है। परन्तु आधुनिक आविष्कृत विषयोंका आदर होनेपर भी सांख्यकी तत्त्व संख्याका निरादर करना नहीं होता है। मूल-भूतोंकी संख्या ६० हो ६५, या ७० ही क्यों न हो, सांख्यके द्वारा बतलाये गये मट्टी, जल, तेज आदि स्थूल भूतोंके सम्बन्धमें कुछ भी परिवर्तन नहीं होता। अतएव सांख्यके आचार्य श्रीकपिलने जिन पंचभूत, तन्मात्रा (रूप-रस-गंध-शब्द-स्पर्श), इन्द्रिय-समूह,

मन, बुद्धि और अहङ्कार आदि तत्त्वोंका विचार करते हुए प्राकृत जगत्का विचार किया है, वह गलत अथवा बेकार नहीं है। बल्कि सांख्यका तत्त्व-विभाग बड़े ही ठोस वैज्ञानिक आधार पर निर्भर है। वेदान्त-संग्रह रूप गीतामें भी तत्त्वोंकी संख्या दी गयी है, जो सांख्यकी तत्त्व-संख्यासे मिलती-जुलती है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनोबुद्धिरेव च ।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥
(गीता ७ ४)

—भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश—पाँच स्थूलभूत एवं मन, बुद्धि तथा अहङ्कार—ये आठ प्रकारके तत्त्व प्रकृतिमें हैं। इस तत्त्व-संख्यामें तन्मात्राओंको पञ्चभूतोंमें तथा इन्द्रियोंको मन, बुद्धि और अहङ्कार रूप सूक्ष्म मायिक तत्त्वोंके अन्तर्गत ले लिया गया है। अतएव तत्त्वोंकी संख्याके सम्बन्ध-में तथा प्रकृतिके विचारके विषयमें सांख्य और वेदान्तके विचारोंमें ऐक्य है।

अब विचारणीय यह है कि मन, बुद्धि और अहङ्कार—ये आत्माके स्वभाव हैं अथवा प्रकृतिके तत्त्व हैं? इस विषयमें कतिपय पाश्चात्य पण्डितोंने मन, बुद्धि और अहङ्कारको प्राकृतिक धर्म माना है तथा आत्माको इनसे परे बतलाया है। आधुनिक प्रायः समस्त पण्डितोंने मन और आत्माको एक माना है। मैंने बहुतसे अँग्रेज विद्वानोंके साथ विचार कर देखा है कि वे लोग आत्माको मनसे पृथक् तो मानते हैं; परन्तु भाषाके दोषसे वे अधिकांश स्थलों पर 'आत्मा' शब्दकी जगह 'मन'-शब्दका प्रयोग कर डालते हैं। गीताके पूर्वोक्त श्लोकके नीचे ही निम्नलिखित श्लोक है—

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥
(गीता ७ ५)

पूर्वोक्त आठ प्रकारकी प्रकृतिके अतिरिक्त और भी एक पारमेश्वरी प्रकृति है। वह प्रकृति जीव-स्वरूपा है, जिसके साथ यह जड़ जगत् स्थित है। इस श्लोकसे यह स्पष्ट रूपसे जाना जाता है कि पूर्वोक्त भूतसमूह, मन, बुद्धि और अहङ्कारात्मिका प्रकृतिसे जीव प्रकृति स्वतन्त्र है। यही सारग्राही सिद्धान्त है।

इस परिदृश्यमान जगत्में दो प्रकारके पदार्थ दिखलायी पड़ते हैं। एक चित् और दूसरा अचित् अर्थात् जीव और जड़। वैष्णव आचार्योंने इन दोनोंको परमेश्वरकी अचिन्त्य शक्तिका परिणाम माना है। अब जड़ सत्ता और जीव सत्ताका मान निरूपण करना कर्त्तव्य है। जीव सत्ता—चैतन्यमय और स्वाधीन क्रिया-विशिष्ट होती है। जड़ सत्ता—जड़मय और चैतन्यके अधीन होती है। वर्त्तमान बद्धावस्था-में नर-सत्ताका विचार होनेसे चैतन्य और जड़का विचार होगा, इसमें सन्देह नहीं; क्योंकि बद्धजीव भगवान्की इच्छासे जड़के वशीभूत दिखलायी पड़ता है।

सप्त-धातुओं द्वारा निर्मित शरीर, इन्द्रियाँ, मन-बुद्धि-अहङ्कार, काल-तत्त्व एवं ईश्वर—ये सब भिन्न-भिन्न रूपमें मनुष्य-सत्तामें, दिखलायी पड़ते हैं। भूत और भूतधर्म अर्थात् पंचतन्मात्रा द्वारा निर्मित यह शरीर सम्पूर्ण रूपसे भौतिक है।

जड़भूतोंके द्वारा कुछ भी अनुभव नहीं होता परन्तु मनुष्यकी सत्तामें शरीरगत स्नायवीय प्रणाली और शरीर स्थित नेत्र, कर्ण आदि विचित्र यन्त्रोंके सहारे किसी प्रकार चिद्धिष्ठानरूप अवस्था लक्षित होती है। इन यन्त्रोंका नाम इन्द्रिय है।

इन इन्द्रियोंके द्वारा भौतिक विषयोंका ज्ञान भौतिक शरीरमें प्रविष्ट होकर भूत-प्रकाशक किसी आन्तरिक, यन्त्रके सहित संयोगित होता है। इस यन्त्रको हम मन कहते हैं। इस मनकी चित्त-वृत्ति द्वारा विषय-ज्ञान अनुभूत होकर स्मृति-वृत्ति द्वारा संरक्षित होता है। कल्पना-वृत्ति द्वारा विषय-ज्ञानका आकार परिवर्त्तित होता है।

बुद्धि-वृत्ति द्वारा लाघवकरण एवं गौरवकरण रूप दो वृत्तियोंके सहारे विषयका विचार होता है।

इनके अतिरिक्त मानव-सत्तामें बुद्धि और चित्तात्मक मनसे लेकर शरीर तक अहं भावात्मक

एक चिदाभास सत्ताका भी लक्षण पाया जाता है। इसी तत्त्वसे 'अहं' और 'मम' अर्थात् 'मैं' और 'मेरा'—ऐसा निगूढ़ भाव मानव सत्तामें निहित है। इसका नाम अहङ्कार है।

ध्यान देनेकी बात है कि अहङ्कार तक समस्त विषय ज्ञान प्राकृत हैं। अहङ्कार, बुद्धि, मन और इन्द्रिय-शक्ति—ये जड़ात्मक नहीं हैं अर्थात् ये सम्पूर्ण-रूपसे भूतों द्वारा गठित नहीं हैं। दूसरी तरफ इनकी सत्ता भूतमूलक है भी, अर्थात् इनका सम्बन्ध भूतों-से न होनेसे इनकी सत्ता सिद्ध नहीं होती है। अतएव यह सिद्ध है कि ये कुछ हद तक चैतन्याश्रित हैं, क्योंकि प्रकाशकत्व भाव ही इनका जीवनीभूत-तत्त्व है। ऐसा कहनेका कारण यह है कि विषयोंका ज्ञान अनुभव करना ही इनकी क्रियाका परिचय है। अब प्रश्न है—यह चैतन्य भाव कैसे सिद्ध होता है?

आत्मा शुद्ध चैतन्य सत्ता है। आत्मा सहज ही जड़के वशीभूत नहीं होती; बल्कि किसी विशेष कारणवश परमेश्वरकी इच्छासे ही शुद्ध आत्माका जड़से गठबन्धन हो गया है। यद्यपि बद्धावस्थामें उस विशेष कारणका अनुसंधान करना हमारे लिये बहुत ही कठिन है, तथापि बद्धावस्थामें आनन्दका अभाव अनुभव करके इतना तो अवश्य ही उपलब्ध होता है कि यह बद्धावस्था चैतन्य सत्ताके लिये दण्ड-भोग की अवस्था है।

आधुनिक विद्वानोंका मत है कि 'जीवकी सृष्टि वर्त्तमान अवस्थामें ही हुई है। जीव कर्मद्वारा क्रमशः उन्नत हो रहा है। परन्तु यह आधुनिक विचार आत्म-प्रत्यय वृत्तिकी कसौटी पर खरा नहीं उतरता। इस विषयमें अधिक युक्तियाँ नहीं हैं, क्योंकि शुद्ध आत्म-तत्त्व और परमेश्वरकी लीलामें भूत-मूलक जड़ युक्ति कोई कार्य नहीं करती। अतएव ऐसा स्थिर करना कर्त्तव्य है कि—शुद्ध आत्माके साथ जड़भूतों के गठबन्धनसे अहङ्कार, बुद्धि, मन और इन्द्रिय-वृत्तिरूप एव चिदाभासकी उत्पत्ति हुई है। परन्तु आत्माके मुक्त होने पर यह चिदाभास दूर हो जाता है।

अतएव मानव सत्तामें तीन तत्त्व लक्षित होते हैं-(१) 'आत्मा' (२) आत्मा और जड़का संयोजक 'चिदाभास यंत्र' (३) 'शरीर'। वेदान्तमें आत्माको 'जीव', चिदाभास यंत्रको लिङ्गशरीर' और भौतिक शरीरको 'स्थूलशरीर' कहा गया है। मृत्यु होने पर शरीर छुट जाता है; परन्तु मुक्ति न होने तक लिङ्ग शरीर कर्म और कर्म-फलका आश्रय कर वर्त्तमान रहता है। चिदाभास यन्त्र अर्थात् लिङ्ग शरीर जीवकी बद्धावस्था तक सदा बना रहता है। परन्तु वह शुद्ध-जीवनिष्ठ नहीं है। शुद्ध जीव चिदानन्द स्वरूप है। शरीरसे अहङ्कार तककी प्राकृत-सत्तासे शुद्ध जीवकी सत्ता पृथक है।

शुद्ध जीवकी सत्ताका अनुभव करनेके लिये प्राकृत चिन्ताका सम्पूर्णरूपसे त्याग करना आवश्यक है। परन्तु ऐसा कैसे किया जाय; क्योंकि शरीरसे लेकर अहङ्कार तत्त्व तककी सारी चिन्ताएँ प्रकृतिके अधीन हैं। चिन्ताकी उत्पत्ति चिदाभाससे होनेके कारण वह भूताश्रयका त्याग नहीं कर सकती है। अतएव मनोवृत्तिकी क्रियाको बन्द रखकर आत्म-समाधिके द्वारा आत्मतत्त्वका अनुशीलन होनेपर अवश्य ही आत्मोपलब्धि होती है। परन्तु जिन्होंने आत्माकी स्वतन्त्रताको अहङ्कार तत्त्वके निकट सम्पूर्ण रूपसे समर्पण कर दिया है, वे युक्तिकी सीमा को पार करनेका साहस नहीं कर सकते हैं और इसी-लिये वे शुद्ध आत्माकी सत्ताका तनिक भी अनुभव करनेमें समर्थ नहीं होते। वैशेषिक आदि युक्तिवादी शुद्धजीवकी सत्ताकी उपलब्धि नहीं करते, अतएव वे मनको भी नित्य मानते हैं।

शुद्ध जीवात्माके १२ लक्षण हैं:—

आत्मा नित्योऽव्यय: शुद्ध एक: क्षेत्रज्ञ: आश्रय: ।
अविक्रिय: स्वदृग् हेतुर्व्यापकोऽसंग्यनावृत: ॥
एतैर्द्वादशभिर्विद्वानात्मनो लक्षणै: परै: ।
अहं ममेत्यसद्भावं देहादौ मोहजं त्यजेत् ॥
(भा० ७।७।२५-२०)

आत्मा नित्य है अर्थात् स्थूल और लिङ्ग शरीर की तरह क्षणभंगुर नहीं है। अव्यय अर्थात् स्थूल

और लिंग शरीरोंके नाश होने पर भी उसका विनाश नहीं होता। शुद्ध अर्थात् प्राकृत भावरहित। एक अर्थात् गुण-गुणी, धर्म-धर्मी, अंग-अंगी आदि द्वैत-भाव-रहित। क्षेत्रज्ञ अर्थात् द्रष्टा। आश्रय अर्थात स्थूल और लिंग शरीरके आश्रित नहीं; बल्कि स्थूल और लिंग शरीर आत्माको आश्रय कर सत्ता विस्तार करते हैं। अविक्रिय अर्थात् शरीरगत भौतिक विकार रहित। विकार छः हैं—जन्म, अस्तित्व, वृद्धि, परिणाम, क्षय और नाश। स्वदृक् अर्थात् अपनेको आप देखनेवाला; प्राकृत दृष्टिसे उसे देखा नहीं जाता। हेतु अर्थात् आत्मा शरीरकी भौतिक सत्ता, भाव और कार्यका मूल तो है, परन्तु स्वयं प्रकृति-मूलक नहीं है। व्यापक अर्थात् निर्दिष्ट स्थानव्यापी नहीं है। उसकी प्राकृत स्थानीय सत्ता नहीं हैं। असङ्गी अर्थात् प्रकृतिके भीतर रह कर भी प्रकृतिके गुणोंसे अतीत है। अनावृत अर्थात् भौतिक आवरण द्वारा बँधा हुआ नहीं होता। पण्डितजन इन बारह अप्राकृत लक्षणों द्वारा आत्माको स्थूल और लिंग शरीरोंसे पृथक जानकर मोहसे उत्पन्न 'अहं' और 'मम' आदि असत् भावोंका त्याग करेंगे।

शुद्ध जीवकी स्थानीय और कालिक सत्ता है या नहीं—इस विषय में बहुत ही तर्क-वितर्क हुआ करता है। परन्तु परमार्थके सम्बन्धमें तर्ककी तनिक भी प्रतिष्ठ नहीं है। वरन् अधिकतर निन्दा ही दिखलायी पड़ती है। तर्क सर्वदा सदाभासनिष्ठ होता है, चिन्निष्ठ नहीं। आत्मा अप्राकृत अर्थात् प्रकृतिके समस्त तत्त्वोंसे अतीत है। यहाँ पर प्रकृति शब्दसे केवल भूत-समूहका ही बोध नहीं होता, बल्कि भूत, तन्मात्रा, चिदाभास अर्थात् इन्द्रिय-वृत्ति, मनोवृत्ति, बुद्धिवृत्ति और अहंकार आदि सबका बोध होता है। चिदाभास प्रकृतिके अन्तर्भूत होनेके कारण प्रकृतिके अधीन बहुतसी अवस्थाओंमें चित्कार्य होने का भ्रम हुआ करता है।

देश और काल प्रकृतिके अन्तर्गत दिखलायी पड़ने पर भी वे शुद्धसत्ता द्वारा चित्तत्त्वमें भी हैं। श्रीकृष्ण-संहिताके पहले और दूसरे अध्यायोंका भलीभाँति विवेचन करने पर ऐसा प्रतीत होगा कि चित्-तत्त्व और जड़-तत्त्व वर्त्तमान अवस्थामें परस्पर विरुद्ध होने पर भी, वास्तवमें परस्पर विपरीत तत्त्व नहीं हैं। चित् तत्त्वमें जो सब सत्ताएँ हैं, वे सभी शुद्ध और दोषशून्य हैं। वे ही सत्ताएँ जड़ तत्त्वमें परिलक्षित होती हैं; किन्तु मायिक जगतमें परिलक्षित सारी सत्ताएँ दोषपूर्ण हैं। अतएव शुद्ध देश और काल, शुद्ध आत्म-सत्तामें लक्षित होंगे तथा ससीम देश-काल, मायिक जगत्में प्रतीत होंगे। देश और कालका यही एक मात्र वैज्ञानिक विचार है।

विशुद्ध अवस्थामें जीवका अस्तित्व शुद्ध आत्मा का होता है। परन्तु बद्धावस्थामें मानव सत्तामें त्रिविध सत्ताएँ परिलक्षित होती हैं-शुद्ध आत्माका अस्तित्व, चिदाभास लिंग शरीरका अस्तित्व और भौतिक स्थूल-अस्तित्व। स्थूल वस्तु सूक्ष्म वस्तुको ढकती है, यह नैसर्गिक विधि है। अतएव चिदाभास लिंग शरीरका अस्तित्व (आत्म-अस्तित्वसे) कुछ स्थूल होनेके कारण वह शुद्ध आत्म-अस्तित्वको आच्छादित कर रखा है; पुनः भौतिक अस्तित्व सबसे अधिक स्थूल होनेके कारण वह शुद्ध-आत्मा-अस्तित्व एवं लिंग-अस्तित्व दोनोंको ही आच्छादित कर रखा है। फिर भी तीनों अस्तित्वोंका ही प्रकाश है। क्योंकि आच्छादित होने पर भी वस्तुका लोप नहीं होता।

शुद्ध आत्मिक अस्तित्व शुद्ध देश कालनिष्ठ होता है। अतएव आत्माका स्थानीय अस्तित्व एवं कालिक सत्ता अवश्य ही स्वीकृत है। स्थानीय अस्तित्वके द्वारा आत्माकी कोई निश्चित अवस्थिति स्वीकारकी जा सकती है। निश्चत अवस्थान-सत्त्वमें कोई शुद्धात्मिक देह और स्वरूप स्वीकार किया जा सकता है। उस स्वरूपका सौन्दर्य, उसकी इच्छाशक्ति, बोधशक्ति और क्रियाशक्ति आदि शुद्धात्मिक गुण-समूह भी स्वीकार किये जा सकते हैं। वह स्वरूप चिदाभास द्वारा नहीं देखा जा सकता है, क्योंकि वह प्रकृतिसे अतीत तत्त्व है। जिस प्रकार स्थूल शरीरके अङ्गसमूह अपने अपने स्थानमें न्यस्त रह कर कार्य

करते हैं और स्वरूपका सौन्दर्य बढ़ा रहे हैं, उसी प्रकार शुद्धात्मिक देहमें भी प्रयोजनीय अङ्ग-समूह न्यस्त हैं। स्थूल और आत्मदेहमें भेद यह है कि स्थूल-देहका देही शुद्धजीव है और देह स्थूल हैं; इसलिए देह और देही भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं। परन्तु आत्म देहमें देह और देही एक हैं, उनमें कोई भेद नहीं है। वस्तुमात्रका दो प्रकारका परिचय होता है—स्वरूप-परिचय और क्रिया-परिचय। मुक्त जीवका स्वरूप-परिचय ही चैतन्य अर्थात् ज्ञान है। जीव ज्ञान-स्वरूप है, अर्थात् ज्ञानरूप पदार्थ द्वारा उसका कलेवर (देह) गठित हुआ है। आनन्द ही उसकी क्रियाका परिचय है। अतएव मुक्त जीवकी सत्ता केवल चिदानन्द है! शुद्ध आत्म सत्तामें शुद्धाहङ्कार, शुद्ध-चित्त, शुद्ध मन और शुद्ध इन्द्रियाँ उस शुद्ध आत्म-सत्तासे अभिन्न रूपमें अवस्थित रहती हैं। बद्धावस्थामें जीवको चिदाभासके रूपमें देखा जाता है। इस समय मायिक सुख-दुःखरूप आनन्द विकार ही उसका क्रिया-परिचय है।

परमात्मा सच्चिदानन्द-स्वरूप और सर्वशक्तिमान हैं। सर्वशक्तिमान परमात्माका नाम भगवान है। भगवान्‌की एक पराशक्ति है। इस पराशक्तिके दो प्रकारके प्रभाव हैं—माया प्रकृति और जीव प्रकृति। जैसे जीवका स्वरूप क्षुद्र चित् है, उसी प्रकार भगवानका स्वरूप विराट चित् है। यह असामान्य विराट चित्-स्वरूप शुद्ध आत्मा द्वारा दर्शनीय, सर्व-सद्गुणसम्पन्न, अत्यन्त सुन्दर और सर्व-चित्ताकर्षक है। उस सुन्दर-स्वरूपके अनिर्वचनीय निखिल माधुर्य-के मूर्त्तिमान विग्रह श्रीकृष्णचन्द्रका नित्य-प्रकाश वैकुंठके परमोच्च प्रकोष्ठ वृन्दावनमें परम शोभाका विस्तार करता है। शुद्ध आत्माएँ उस शोभाका दर्शन कर नित्य मुग्ध हैं। बद्धजीव उसी व्रजविलासका अन्वेषण करते हैं और उसे प्राप्त कर कृतार्थ हो जाते हैं।

श्रीरूप गोस्वामीने 'भक्तिरसामृतसिन्धु' ग्रन्थ-में लिखा है कि जीव-स्वरूपमें पचास गुण बिन्दु-बिन्दु रूपमें हैं। परब्रह्म स्वरूप नारायण में ये पचास गुण पूर्णरूपमें होते हैं; इनके अतिरिक्त और भी दस गुण उनमें पाये जाते हैं। और उनके परमानन्द-प्रकाश स्वरूप श्रीकृष्णचन्द्रमें चौसठ गुण उपलब्ध हैं। इसीलिये श्रीकृष्ण-स्वरूप—भगवच्छक्तिके प्रकाशकी पराकाष्ठा माने गये हैं। इन तीनों तत्त्वोंका सम्बन्ध निर्णय करना ही सम्बन्ध-विचार है। भग-वद्गीतामें इसका बड़ा ही सुन्दर विचार है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनोबुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥
मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥
(गीता ७.४-७)

पहलेके दो श्लोकोंका अर्थ पहले ही लिखा गया है। बाकी दो श्लोकोंका अर्थ यह है कि पूर्वोक्त दोनों प्रकारकी प्रकृतियोंसे चेतन और अचेतन समस्तपदार्थोंकी उत्पत्ति हुई है। भगवान दोनों जगतोंकी उत्पत्ति और लयके हेतु हैं। भगवान्‌से स्वतन्त्र या उनसे ऊँचा कोई भी दूसरा तत्त्व नहीं है। सब कुछ भगवान्‌में ओतप्रोत रूपमें अवस्थित है, जैसे एक सूत्रमें अनेकों मणियाँ पिरोई हुई होती हैं। मूल तत्त्व एक है अर्थात् वह एक तत्त्व हैं—भगवान्।

भगवानकी पराशक्तिके भाव और प्रभावसे जीव और जड़का उदय हुआ है। अतएव समस्त जगत् भगवान्‌की शक्तिका परिणाम है। इस सिद्धान्त द्वारा अनेक दिनोंसे प्रचलित विवर्तवाद तथा ब्रह्म-परिणाम-वादका खंडन हो गया। परब्रह्मका विवर्त्त या परिणाम सिद्ध नहीं होता; इसलिये उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। परन्तु भगवानकी पराशक्तिके क्रिया-परिणाम द्वारा सबकुछ सिद्ध होता है। जीव और जड़, ये दोनों परमेश्वरकी शक्तिसे उत्पन्न हैं, परन्तु इनकी कोई स्वाधीन शक्ति नहीं है। भगवान-की कृपाके बिना वे कुछ भी नहीं कर सकते। श्री-

कृष्ण-संहिताके पहले और दूसरे अध्यायमें इसका सुन्दर और सुस्पष्ट विवेचन किया गया है।

संक्षेपमें यह कहा जा सकता है कि भगवान् इनके एकमात्र आश्रय हैं और ये भगवानके नितान्त आश्रित हैं। भगवान सम्पूर्ण रूपसे इनकी सत्तामें स्थित रहते हैं और ये भगवत् सत्ताके ऊपर सम्पूर्ण रूपसे अपने अस्तित्वके लिये निर्भर करते हैं। जीवके सम्बन्धमें विशेष बात यह है कि जीव स्वरूपतः चैतन्य-विशेष है, अतएव परम चैतन्य परमेश्वर ही उनके एकमात्र एकमात्र आश्रय हैं। जड़-तत्त्व जीवोंका कदापि आश्रय नहीं है। इस समय बद्धावस्थामें जीवका स्वधर्म जड़गत होनेके कारण, परमेश्वरगत प्रीतिधर्म का विकार ही विषयके प्रति अनुराग हो पड़ा है; परन्तु इस विकृत-रागको दूर कर यथार्थ रागको अपनाना ही श्रेय है; क्योंकि जड़के साथ जीवका नित्य सम्बन्ध नहीं है, यदि कुछ सम्बन्ध है, तो वह केवल दुर्गति है। भगवानकी कृपासे जबतक मुक्ति नहीं हो जाती, तब तक जीवन-यात्रा रूप जड़ सम्बन्ध अनिवार्य है। मुक्तिका अन्वेषण करनेसे ही मुक्ति सहज ही प्राप्त नहीं होती। भगवान्‌की कृपासे ही वह पायी जाती है। इसलिये हृदयसे मोक्ष या भोगकी कामनाको उखाड़ कर दूर फेंकना ही कर्त्तव्य है। भोग और मोक्षकी कामनासे रहित होकर युक्त वैराग्य अवलम्बन कर अपने स्वधर्मका अनुशीलन करना ही ही जीवका एकमात्र कर्त्तव्य है। यह जड़ जगत भगवानकी दासी पराशक्तिकी छायारूपा माया शक्ति-का कार्य है। भगवत् विमुख जीवोंके लिये यह जड़ ब्रह्माण्ड कारागारस्वरूप है। इस कारागारसे छुट-कारा पानेका एकमात्र उपाय है—भगवान्‌की सेवा करना—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥
(गीता ७।१४)

सत्त्व-रज-तम गुणोंवाली यह त्रिगुणमयी माया परमेश्वरकी एक शक्ति है। इससे उद्धार पाना बड़ा ही कठिन है। जो लोग भगवान्‌की शरण ग्रहण करते हैं, केवल वे ही उसकी इस दुस्तरा मायासे उद्धार लाभ कर सकते हैं।

—ॐविष्णुपाद श्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुर

उपनिषद् वाणी

कठोपनिषद्

[पूर्व प्रकाशित वर्ष ५, संख्या ५, पृष्ठ ११४ से आगे]

यह मनुष्य-शरीररूपी पुरी दो आँख, दो कान, दो नासिका, एक मुख, ब्रह्मरन्ध्र, नाभि, गुदा और शिश्न—इन ग्यारह द्वारवाला है। यह सर्वव्यापी परमेश्वरकी नगरी है। इस रहस्यको जानकर जो इस मनुष्य शरीरमें उन नगरके महान स्वामी अजन्मा परमेश्वरकी आराधना करते हैं, उनका निरन्तर चिन्तन और ध्यान करते हैं, वे कभी शोक नहीं करते और संसार-बन्धनसे छूट कर मुक्त हो जाते हैं अर्थात् जन्म-मृत्युके चक्रसे सदाके लिये छूट जाते हैं। वे परम ब्रह्म प्राकृत-गुणोंसे सर्वथा अतीत विशुद्ध परमधाममें विराजित पुरुषोत्तम ही हैं। वही अन्तरीक्षमें विचरनेवाले वायु देवता हैं, वही अतिथिके रूपमें गृहस्थके घरोंमें उपस्थित होते हैं, वही यज्ञकी वेदी पर प्रतिष्ठित अग्नि हैं और यज्ञमें

आहुति प्रदान करनेवाले होता भी वही हैं। वही मनुष्य, देवता और पितृ रूपमें स्थित हैं, आकाशमें स्थित हैं और सत्यमें प्रतिष्ठित हैं। वही जलमें मत्स्य, शङ्ख और शुक्ति आदिके रूपमें प्रकट होते हैं, पृथ्वीमें वृक्ष, अंकुर, अन्न, औषधि आदिके रूपमें, यज्ञादि सत्कर्मोंमें नाना प्रकारके यज्ञफलादिके रूपमें और पर्वतोंमें नद-नदी आदिके रूपमें प्रकट होते हैं। इसलिये वे सब प्रकारसे सभीकी अपेक्षा श्रेष्ठ, महान और परम सत्य-तत्त्व हैं।

शरीरमें प्राण अपान आदिकी सारी क्रियाएँ उन परमात्माकी प्रेरणासे ही चल रही हैं। वही प्राणको ऊपरकी ओर चढ़ाते हैं और अपानको नीचेकी ओर ढकेलते हैं। इस प्रकार वही शरीरके समस्त व्यापारोंका सुचारु रूपसे सम्पादन करते हैं। सभी देवता उन सर्वव्यापी परम पूजनीय परमेश्वरकी उपासना करते हैं। शरीरस्थित प्राण, मन-बुद्धि-इन्द्रियादिके सभी अधिष्ठातृ-देवता उन परमेश्वरकी प्रेरणासे ही समस्त कार्योंका विधिवत सम्पादन करते हैं।

यह अनित्य शरीर ध्वंस होने पर शरीरका कुछ भी बच नहीं रहता, परन्तु वे परब्रह्म-परमेश्वर सदा-सर्वदा समान भावसे विराजमान रहते हैं। प्राण, अपान और वायु आदिके द्वारा प्राणी एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकते हैं,वह चेतनमय वस्तु ही इसका जीवन है। वे परमात्मा और जीवात्मा ही सर्वदा वर्तमान रहते हैं।

यहाँ यमराज यह बतलाते हैं कि मरनेके बाद जीवात्माका क्या होता है। बद्धजीव अपने शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार निर्मित विभिन्न प्रकारकी वासनाओंके अनुसार विभिन्न प्रकारकी योनियोंमें प्रवेश करता है। इनमें कुछ जीवात्मा शुभ कर्मोंके अनुष्ठान आदि द्वारा स्वर्गादि प्राप्त करते हैं, कुछ जीवात्मा, जिनके पुण्य-पाप समान होते हैं वे मनुष्य योनि लाभ करते हैं, कुछ जीवात्मा जिनके पाप अधिक और पुण्य कम होते हैं,वे पशु पक्षी और कीट-पतङ्ग आदिकी योनियों में जाते हैं और कुछ जीवात्मा, जिनके पाप अत्यन्त अधिक होते हैं वे वृक्ष, लता, तृण और पर्वत आदि स्थावर जड़ शरीरोंमें उत्पन्न होते हैं।

अब इन जीवात्माओंसे भी परे हैं—परमात्मा। यह दिखलानेके लिये यम महाराज कहते हैं—जीवात्माओंके कर्मानुसार नाना प्रकारकी योनियोंमें भ्रमण करा कर उनको यथायोग्य कर्मफल-भोग प्रदान करनेवाले परमपुरुष परमात्मा समस्त जीवोंके सो जाने पर भी (प्रलयकालमें) अपनी महिमामें नित्य महिमान्वित रह कर सदा-सर्वदा वर्तमान रहते हैं। कोई भी उनकी महिमाको लाँघ नहीं सकता। सम्पूर्ण लोक उसीके आश्रित हैं—उसीके शासनमें रहनेवाले उसीके अधीन हैं। कोई भी उसकी महिमाका पार नहीं पा सकता। वे परब्रह्म वही हैं जिसके सम्बन्धमें तुमने पूछा था।

एक ही अग्नि जिस प्रकार ईन्धनके अनुरूप अपना आकार प्रकाश कर भिन्न-भिन्न रूपोंमें दृष्टिगोचर होता है, उसी प्रकार एक ही परमेश्वर समस्त शरीरोंमें सम भावसे विराजमान हैं और विभिन्न शरीरधारियोंके शरीरमें भिन्न-भिन्न रूपमें प्रतीत होते हैं। वस्तुतः वे एक और सर्वग होने पर भी उनके एकत्वकी हानि नहीं होती। एक वायु अव्यक्त रूपसे सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें व्याप्त है, तथापि प्रकट रूपमें भिन्न-भिन्न वस्तुओंमें भिन्न-भिन्न गति और शक्तिवाला दिखलायी देता है। उसी प्रकार एक परमब्रह्म परमेश्वर समस्त प्राणियोंके बाहर-भीतर समान रूपमें विराजमान रह कर भी भिन्न-भिन्न प्राणियोंके सम्बन्ध से भिन्न-भिन्न रूपोंमें प्रतीत होते हैं। जिस प्रकार एक ही सूर्य सम्पूर्ण-ब्रह्माण्डको प्रकाश करता है, उसका प्रकाश प्राणिमात्रकी आँखोंका सहायक है; उस प्रकाशकी सहायता लेकर लोग नानाप्रकारके गुणदोषमय कर्म करते हैं, परन्तु सूर्यदेव उनके नेत्रोंद्वारा किये जानेवाले नाना प्रकारके बाह्य कर्मरूप दोषोंसे तनिक भी लिप्त नहीं होते, उसी प्रकार सबके अन्तर्यामी एक परमेश्वर भी शुभाशुभ अनुष्ठानकारी प्राणियोंके द्वारा किये गये कर्मोंके शुभाशुभ फलसे लिप्त नहीं होते। वे प्राणियोंकी तरह सुख-दुःख

भोगसे लिप्त नहीं होते; क्योंकि वे सबमें रहते हुए भी सबसे पृथक् और सर्वदा असङ्ग हैं।

जो अद्वितीय परमेश्वर देव-मनुष्य आदि समस्त प्राणियोंको अपने वशमें रखते हैं, वे सर्वशक्तिमान परमेश्वर अपनी लीलासे ही एक रूपको बहुत प्रकारका बना लेते हैं, उन परमात्माको जो अपने अन्दर स्थित दर्शन करते हैं, उन्हींको सदा स्थिर रहनेवाला-सनातन सुख प्राप्त होता है, दूसरोंको नहीं। जो समस्त नित्य चेतन आत्माओंके भी नित्य चेतन आत्मा हैं और जो स्वयं एक होते हुए भी अनन्त जीवोंके भोगोंका उनके कर्मानुसार निर्माण करते हैं, उन सर्वशक्तिमान परब्रह्म पुरुषोत्तमको जो अपने अन्दर स्थित देखते हैं, उन्हींको सनातनी शान्ति मिलती है, दूसरोंको नहीं। उस सनातनी शान्तिको प्राप्त महापुरुष ऐसा मानते हैं कि परमेश्वर ही अलौकिक आनन्दकी सीमा हैं, जिनका निर्देश मन और वाणीसे नहीं किया जा सकता। अतएव उन परब्रह्मकी धारणा करना प्रत्यक्ष या परोक्ष रूपसे किस प्रकार संभव है? उस स्वप्रकाश परब्रह्म परमेश्वरके धाममें जागतिक सूर्य प्रकाशित नहीं होता। वहाँ चन्द्रमा तारागण और बिजली आदि भी नहीं चमकते; फिर इस लौकिक अग्निकी तो बात ही क्या है? क्योंकि प्राकृत जगतके समस्त प्रकाशशील तत्त्व उन परमब्रह्म परमेश्वरकी प्रकाशशक्तिसे प्रकाशित हैं, अतएव वे उनके प्रकाशकके समीप अपना प्रकाश कैसे फैला सकते हैं? तात्पर्य यह कि यह सम्पूर्ण जगत् उन्हीं प्रकाशशील परमात्माके एक अंशसे प्रकाशित हो रहा है।

यहाँ संसाररूपी वृक्षका वर्णन कर रहे हैं—इस सनातन संसार रूप वृक्षकी जड़ ऊपरकी ओर और शाखाएँ नीचेकी ओर हैं। परब्रह्म परमेश्वर ही इसके मूल हैं। उनसे ही यह उत्पन्न होता है, उनसे ही सुरक्षित है और उनमें ही विलीन हो जाता है। उनका ही नाम ब्रह्म है। वे अमृत-स्वरूप हैं। सब लोक उन्हींके आश्रित हैं। कोई भी उनका अतिक्रमण करनेमें समर्थ नहीं है। इन्द्रियोंके 'देखने, सुनने और समझमें आनेवाले सम्पूर्ण चराचर जगत्के नियामक, प्रेरक और आधार वह परब्रह्म पुरुषोत्तम ही हैं। वे परम दयालु होकर भी महान् भय-स्वरूप हैं। हाथमें वज्र धारण किये हुए प्रभुको देखकर समस्त प्राणी और सारे देवता सदा-सर्वदा नियमानुसार उनकी आज्ञाके पालनमें नियुक्त रहते हैं। इस परब्रह्मको जो जानते हैं, वे तत्त्वज्ञ पुरुष अमर हो जाते हैं—जन्म-मृत्युके चक्रसे छूट जाते हैं।

उन परमेश्वरके भयसे अग्नि जलती है, सूर्य तपता है, उन्हींके भयसे इन्द्र, वायु एवं पाचवें मृत्यु देवता दौड़ दौड़ कर जल बरसाते हैं, प्राणियोंको जीवनी शक्ति प्रदान करते हैं तथा नाश आदि कार्य करते हैं। समस्त देवताओंके देवता परमेश्वर सबको अपने शासन और नियन्त्रणमें रखकर जगत्का पालन आदि कार्य कराते हैं। वे सबके शासक और नियन्ता हैं। इस सर्वशक्तिमान सर्वनियन्ता प्रभुको यदि कोई साधक इस दुर्लभ मनुष्य शरीरका नाश होनेसे पहले ही जान लेता है, तो उसका जीवन सफल हो जाता है। अनादिकालसे जन्म-मृत्युके प्रवाहमें पड़ा हुआ वह जीव उससे छुटकारा पा जाता है। नहीं तो उसे पुनः पुनः विभिन्न योनियोंमें जन्म लेकर दुःख भोग करनेके लिये बाध्य होना पड़ता है। अतएव मृत्युके पहले ही भगवत्तत्त्व जानकर भगवद्भजन करना बुद्धिमान मनुष्यका कर्त्तव्य है।

जैसे दर्पणमें मुखमण्डल स्पष्ट दीखता है, उसी प्रकार ज्ञानीपुरुषोंको भगवानके स्पष्ट दर्शन होते हैं। इस लोकमें प्रायः इस प्रकारका स्पष्ट ज्ञान नहीं होता। पितृलोक अपेक्षाकृत शुद्ध है, उनमें पूर्वजन्मकी स्मृति और ज्ञान रहनेके कारण वहाँ, जैसे स्वप्नमें वस्तु विशृंखल दीखने पर भी कुछ स्पष्ट दीखती है, वैसे ही पितृलोकमें भगवत् तत्त्वके दर्शन होते हैं। गन्धर्व लोक पितृलोकसे श्रेष्ठ है। वहाँ परमात्माकी प्रतीति, जलमें दीखनेवाले प्रतिबिम्बकी भाँति और भी तनिक स्पष्ट दिखायी देती है। जैसे हवाके झोंकोंसे जलका प्रतिबिम्ब हिलता-डुलता है, उसी प्रकार गन्धर्वलोकमें रहनेवालोंका अन्तःकरण भोगके प्रवाह

में अस्थिर रहनेके कारण उनको परमात्माका दर्शन स्पष्टरूपमें नहीं होता है। परन्तु ब्रह्मलोकमें छाया और धूपकी भाँति जीवात्मा और परमात्माका ज्ञान स्पष्टरूपमें दीखता है। अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा पृथक् तत्त्व हैं। जीवात्मा छायाकी भाँति है और परमात्मा धूपकी भाँति ज्योतिर्मय चिद् सूर्य-विशेष है। अतएव जिस प्रकार छाया और धूप परस्पर विलक्षण हैं, उसी प्रकार जीवात्मा और परमात्मा कभी एक तत्त्व नहीं हैं।

शब्द-स्पर्शादि विषयोंके अनुभवरूप पृथक्-पृथक् कार्य करनेके लिये भिन्न-भिन्न रूपमें उत्पन्न हुई इन्द्रियों के जो पृथक् पृथक् भाव हैं एवं जाग्रत अवस्थामें कार्यशील हो जाना और सुषुप्तिकालमें लय हो जाना रूप जो परिवर्त्तनशीलता है, वह आत्माकी नहीं है—शरीरकी है, आत्मा इससे सम्पूर्ण विलक्षण, विशुद्ध एवं सर्वदा एकरस है—इस तत्त्वको जो जान लेता है, वह सदाकेलिये दुःख और शोकसे रहित हो जाता है। इन्द्रियोंसे मन श्रेष्ठ है, मनसे बुद्धि श्रेष्ठ है और बुद्धिसे भी श्रेष्ठ जीवात्मा है। इस जीवात्मा से भी अव्यक्त प्रकृति श्रेष्ठ है; क्योंकि प्रकृतिने जीवात्माको बाँध रखा है। (गीतामें जीवोंको प्रकृतिसे श्रेष्ठ कहा गया है, तथापि जीवात्मा प्रकृतिके अधीन हो सकता है, इसीलिये यहाँ प्रकृतिको जीवात्मासे श्रेष्ठ बतलाया गया है।) परन्तु इस प्रकृतिसे भी परमपुरुष परमात्मा श्रेष्ठ हैं, जो सर्वव्यापक और प्राकृत इन्द्रियोंसे रहित हैं। जीव इन परम पुरुष परमात्माको जानकर प्रकृतिके बन्धनसे छूटकर अमृत का अधिकारी हो जाता है। परमेश्वरका रूप अथवा आकार प्राकृत नहीं होता है। इसलिये उनके अप्राकृतरूपको मायाबद्ध जीव अपने प्राकृत चर्म-चक्षुओंसे देख नहीं सकता है। परन्तु निरन्तर श्रवण और मनन आदि द्वारा विशुद्ध हुई बुद्धि द्वारा जीव अपने अन्तःकरणमें परमात्माकी कृपासे परमात्माका दर्शन कर सकता है। और उससे वह अमृत अर्थात् परमानन्दको प्राप्त कर सकता है। जब मनके सहित पाँचों इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्यसे निवृत्त हो जाती हैं एवं बुद्धि भी उनके परिचालनादि कार्यको छोड़ कर परमात्मामें स्थिर हो जाती है, तब इस स्थितिको जीवोंके लिये परम गति कहते हैं।

इन्द्रिय, मन और बुद्धिकी स्थिर धारणाका नाम ही योग है। वैसी अवस्थामें साधक विषय-दर्शन-आदि से सर्वथा रहित हो जाता है। परन्तु ये जब तक परमात्मामें स्थिर नहीं हो जातीं, तबतक साधककी अवस्थामें परिवर्त्तन संभव है। इसलिये इन्द्रियोंके सहित मन और-बुद्धिको स्थिर करना नितांत आवश्यक है। परमात्मा मन, वाणी या नेत्र द्वारा गोचरीभूत नहीं हैं। अर्थात् इनके द्वारा परमात्माको प्राप्त नहीं किया जा सकता है। परन्तु वह है अवश्य और उसे प्राप्त करनेकी तीव्र इच्छा रखनेवालोंको वह अवश्य मिलता है। इस प्रकार जब साधक दृढ़ निश्चय कर यत्नपूर्वक परमात्माके चिन्तनमें तत्परता से लग जाता है, तब परमात्मा प्रसन्न होकर साधक के विशुद्ध हृदयमें अपने-आप अपना स्वरूप प्रकाश करते हैं। जब अन्तःकरणकी समस्त कामनाएँ-जड़से ध्वंस हो जाती है, तभी जीव अमृतका अधिकारी होता है और परमात्माकी अनुभूति कर आनन्द प्राप्त होता है। साधकके हृदयमें जबतक भोगादिकी कामनाएँ रहती हैं, तबतक उसका चित्त परमात्म-चिन्तनमें नहीं लगता। जब साधकके हृदयकी अहंता-ममतारूप समस्त अज्ञान-ग्रन्थियाँ भलीभाँति कट जाती हैं, उसके समस्त संशय दूर हो जाते हैं, तब वह मृत्यु-धर्मका अतिक्रमण करके अमृतत्व को प्राप्त हो जाता है। यही सनातन उपदेश है।

हृदयमें एक सौ एक प्रधान नाड़ियाँ हैं, जो वहाँ-से शरीरमें सब ओर फैली हुई हैं। उनमेंसे सुषुम्णा नामक एक नाड़ी हृदयसे मस्तिष्ककी ओर गयी है। भगवान्के परमधाममें जानेका अधिकारी उस नाड़ी-के द्वारा शरीरसे बाहर निकल कर सबसे ऊँचे लोक-में अर्थात भगवद्धाममें गमन करता है। और भगवद्विमुख जीव मरणकालमें दूसरी नाड़ियोंके द्वारा शरीरसे बाहर निकल कर अपने-अपने कर्म

और वासनाके अनुसार नाना-प्रकारकी योनियोंमें चले जाते हैं।

सबके अन्तर्यामी परमपुरुष परमेश्वर हृदयके अनुरूप अंगुष्ठ मात्र रूपमें जीव-हृदयमें निवास करते हैं। जिस प्रकार मूँजमें रहनेवाली सींक मूँजसे पृथक होती है, उसी प्रकार सर्वान्तर्यामी परमेश्वर-भी जीवात्मासे विलक्षण और पृथक् हैं। वे विशुद्ध और अमृस्वतरूप हैं। यमराजके इस उपदेश और योगकी विधिको प्राप्त कर नचिकेता जन्म-मरणके बन्धनसे छुटकारा प्राप्त कर परमधाम में चले गये। जो इस आध्यात्म विद्याको तत्त्वसे जान लेते हैं, वे भी नचिकेताकी भाँति उत्तम गतिको प्राप्त करेंगे—इसमें संदेह नहीं।

—त्रिदण्डि स्वामी श्रीमद्भक्तिभूदेव श्रौती महाराज

महाराज अम्बरीष

भगवद्विमुख जीव मायाके बन्धनमें पड़कर सांसारिक विषय-भोगोंको सुख मान कर नाना प्रकारसे कष्ट भोगा करते हैं। पुनः उस कष्टको दूर करनेके लिये नाना प्रकारके सत्कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं। परन्तु आश्चर्य और खेदकी बात है कि वे जिस दुखको दूर करनेका प्रयत्न करते हैं, वही दुख पुनः पुनः उनको जर्जरित करता है। ऐसी दशामें यदि हम इस संसारमें रह कर भी कर्मपाशसे छुटकारा प्राप्त कर परम सुखमय जीवन प्राप्त करना चाहते हैं, तो हमें तत्परताके साथ भगवद्भक्तोंका जीवन-चरित अनुशीलन करना होगा। यहाँ हम ऐसे ही परम भगवद्भक्तका जीवन चरित्र दे रहे हैं।

भुवनविख्यात महाराज अम्बरीषको कौन नहीं जानता? वे पृथ्वीके चक्रवर्ती सम्राट होकर भी राज्यपद और ऐश्वर्य आदि सब विषयोंको स्वप्नकी तरह मिथ्या समझते थे। वे सब-प्रकारसे भगवान्-की सेवा करते थे। उनकी भक्तिके कार्य बड़े ही चमत्कारपूर्ण और आदर्श स्थानीय होते थे। उन्होंने अपने मनको श्रीकृष्णचन्द्रके चरणारविन्दयुगल में, वाणीको श्रीहरिके नाम-रूप गुण और उनकी लीला-कथाओंके कीर्त्तन और वर्णनमें, हाथों-को श्रीहरिके मन्दिर-मार्जनमें, कानोंको भगवान और भगवद्भक्तोंकी मंगलमयी कथाओंके श्रवणमें, नेत्रको श्रीभगवद्विग्रह, मंदिर और भक्तों के दर्शनोंमें, अपने अंगोंको भक्तोंके अंग-स्पर्शमें, नासिकाको श्रीभगवान् के पादपद्ममें अर्पित तुलसीकी सुगन्ध सूँघनेमें एवं रसनाको भगवत्प्रसाद सेवनमें ही सदा-सर्वदा नियुक्त कर रखा था। वे पैरोंसे श्रीहरिके क्षेत्रोंमें भ्रमण करते और मस्तकसे श्रीभगवानको प्रणाम करते। वे कामको संसारिक विषयोंसे हटाकर श्रीभगवत्सेवा-में लगाते थे। उन्होंने प्रह्लाद आदि भगवद्भक्तोंके द्वारा आचरित भक्तिके इन अंगोंका अनुष्ठान करके श्रीभगवानके चरणोंमें अपूर्व रति प्राप्त कर ली थी। उधर ब्राह्मणोंके आदेशके अनुसार राज्य-कार्यका संचालन भी बड़ी कुशलतासे करते थे।

यद्यपि ऐकान्तिक भक्तोंको मायामें बँधे हुए जीवोंकी तरह भक्तिके अतिरिक्त यज्ञ, दान आदि अनुष्ठानोंकी आवश्यकता नहीं होती, तथापि महाराज अम्बरीष लोकशिक्षाके लिये क्षत्रिय-राजाके लिये उचित अश्वमेध आदि यज्ञोंके द्वारा भी यज्ञेश्वर श्री-हरिको प्रसन्न करते थे। उन्होंने वशिष्ठ, गौतम, असित आदि ब्रह्मर्षियोंको अपना प्रतिनिधि बना कर राजधानीसे दूर सरस्वती नदीके किनारे अनेकों अश्वमेध करके यज्ञपति भगवानकी आराधना की थी। वे तीर्थ स्थानोंमें जाते और तीर्थोंकी महिमा

विस्तार करनेके लिये तथा भगवद्भक्तिका प्रचार करनेके लिये वहाँ पर नाना-प्रकारके भक्ति-अनुष्ठान करते थे।

महाराज द्वादशी व्रतका बड़ी सावधानीसे पालन करते थे। दूसरे दिन व्रतकी समाप्ति होने पर ब्राह्मण-वैष्णवोंको भोजनदान और दक्षिणा देकर यथा समय पारण करते थे। एक बार कार्त्तिकका महिना था। वे द्वादशी व्रतका नियमपूर्वक पालन कर दूसरे दिन व्रतकी समाप्ति होनेपर स्त्री सहित यमुनाजीमें स्नान करके मधुवनमें श्रीहरिका पूजन किये। अनन्तर ब्राह्मणोंको गोदान और भगवत् प्रसाद द्वारा सन्तुष्ट करके अतिथि सत्कारके पश्चात् स्वयं व्रतका पारण (महाप्रसाद-भोजन) करनेके लिये प्रस्तुत हुए। ठीक उसी समय दुर्वासा ऋषि वहाँ अतिथिके रूपमें पधारे।

दुर्वासा मुनिको आया देख कर महाराज अम्बरीषने अपने भोजनकी व्यवस्था बन्द करवा दी और आसनसे उठ कर ऋषिकी यथोचित अभ्यर्थना की। पश्चात् उन्होंने आतिथ्य ग्रहण करनेका भी निमंत्रण दिया। राजाके आदर-सत्कारसे दुर्वासा मुनि बड़े प्रसन्न हुए और उनका निमंत्रण स्वीकार कर लिये। इसके पश्चात् वे स्नान और मध्याह्नकी संध्यातर्पण आदि क्रियाओंसे निवृत्त होनेके लिये नदीके तट पर चले गये। जानेके समय ऐसा कहते गये कि 'मैं शीघ्र ही आ रहा हूँ।'

समीप ही कालिन्दी प्रवाहित हो रही थीं। दुर्वासा मुनि यमुनाके पवित्र जलमें स्नानकर ब्रह्म-चिन्तन (गायत्री जप आदि) में लग गये। महाराज अम्बरीष मुनिकी प्रतीक्षा कर रहे थे। बड़ी देर हो गयी, परन्तु दुर्वासा लौटते दिखाई न दिये। इधर द्वादशी तिथि बीतनेमें आधी मुहूर्त्त अर्थात् एक घड़ी ही बाकी रह गयी थी। इस प्रकार पारणका समय समाप्त होनेको आया देखकर धर्मज्ञ महाराजने धर्म-संकटमें पड़कर उपस्थित भक्त ब्राह्मणोंसे पूछा कि अब उन्हें क्या करना चाहिए। निमन्त्रित ब्राह्मणको भोजन कराये बिना उससे पहले ही भोजन करना भी पाप है और दूसरी ओर यथासमय पारण न करनेसे भी व्रत-भंगका दोष लगता है। ऐसी दशामें आप लोग मुझे कोई ऐसी बात बतलानेकी कृपा करें, जिससे मेरा व्रत भी नष्ट न हो तथा मुझे पाप अथवा अधर्म भी स्पर्श न करे।' अन्तमें सबने मिलकर स्थिर किया कि महाराज केवल मात्र जल पीकर व्रतकी रक्षा करें। क्योंकि श्रुतिका कहना है कि जलपीना भोजन करना भी है और नहीं भी करना है। महाराजने सबकी आज्ञा लेकर भक्ति द्वारा पवित्र हृदयमें भगवानका ध्यान करके जल पीकर व्रतकी रक्षा की।

महाराज अम्बरीषके जल पीकर उठते-न-उठते ही दुर्वासा ऋषि उपस्थित हुए और योगबलसे महाराजके जल पीनेकी बात जान कर क्रोधसे काँपते-काँपते बोले—'देखो तो सही, यह व्यक्ति कितना क्रूर है। यह धनके मदमें मतवाला हो रहा है। वास्तवमें यह भगवानका भक्त नहीं है। यह तो अपनेको ही ईश्वर मान बैठा है। इसीलिये इसने धर्मका इसप्रकार उल्लंघन किया है। देखो, आज मैं इसका अतिथि हूँ। इसने मुझे भोजनके लिये निमंत्रण भी दिया था। परन्तु मुझे भोजन कराये बिना ही इसने स्वयं भोजन कर लिया। मैं अभी इसे इसका फल चखाता हूँ।'

इतना कहकर दुर्वासा ऋषिने क्रोधमें भरकर अपने सिरसे एक जटा उखाड़ ली और उससे एक बड़ी भयंकर कृत्या उत्पन्न की। वह कृत्या अपने हाथोंमें खड्ग लेकर भयंकर शब्द करती हुई तथा पैरोंकी धमकसे पृथ्वीको कँपाती हुई राजाकी ओर लपकी। परन्तु भगवद्भक्तोंकी बात ही निराली होती है। वे कालसे भी नहीं डरते; क्योंकि उन पर कालके नियामक स्वयंभगवानकी कृपा रहनेके कारण काल भी उनकी दूरसे ही वन्दना करते हैं। अस्तु, परम-भागवत महाराज अम्बरीष अपनेको मृत्युके मुखमें देखकर भी अपने स्थानसे तनिक भी विचलित न हुए—जहाँ-के-तहाँ खड़े रहे। बड़ा ही अद्भुत और

रोमांचकारी दृश्य था। भगवानके अनन्यभक्त अपनी देह, मन आत्मा—सब कुछ भगवानको समर्पण कर अपनी रक्षा आदिके लिये सम्पूर्ण रूपसे निश्चिन्त रहते हैं। वे जानते हैं कि भगवान ही जीवके एकमात्र रक्षक-पालक और विनाशक हैं। उनकी इच्छासे ही प्राणी जीवित रहता है और इनकी इच्छा से ही वह विनष्ट होता है। भगवान् स्वयं शरणागतजनकी रक्षा करते हैं।

भगवान्‌ने पहलेसे चक्र सुदर्शनको अपने सेवककी रक्षाके लिये नियुक्त कर रखा था। जैसे प्रचण्ड दावानल वनके क्रोधसे फुँफकारते सर्पको क्षण भरमें भस्म कर देता है, उसी प्रकार सुदर्शन चक्रने उस कृत्याको जला कर भस्मका ढेर कर दिया। इतना ही नहीं, वह कृत्याको जला कर बड़े वेगसे दुर्वासाकी ओर बढ़ा। यह देख कर दुर्वासा भयभीत होकर अपने प्राणोंकी रक्षाके लिये इधर-उधर भागे। परन्तु चक्रने पीछा न छोड़ा। दुर्वासाजी सब दिशाओंमें, आकाशमें, अतल वितल आदि लोकोंमें, पृथ्वीमें, समुद्रमें, लोकपाल और उनके द्वारा सुरक्षित लोकोंमें तथा स्वर्गमें, जहाँ भी भाग कर गये, सभी जगह असह्य तेजवाले सुदर्शन चक्रको अपने पीछे आते देखा। तब कहीं भी शरण न पाकर दुर्वासा ऋषि ब्रह्माके निकट जाकर उनसे अपनी रक्षाके लिये प्रार्थना करने लगे। परन्तु ब्रह्माजीने उनकी रक्षा करनेमें अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए कहा—'वत्स! मैं उन्हीं सर्वेश्वर भगवानका दास हूँ, जिनका यह चक्र है। केवल मैं ही नहीं, अपितु शङ्करजी, दक्ष-प्रजापति, भृगु आदि प्रजापति, भूतेश्वर और देवेश्वर आदि सभी उन्हीं सर्वेश्वरेश्वर विष्णुकी आज्ञा शिरोधार्यकर लोकहितके लिये कार्य करते हैं। और तो क्या, मेरा यह ब्रह्मपद भी अनित्य है। उन सर्वदेवेश्वरकी जगत-क्रीड़ाका अन्त होने पर अर्थात् प्रलयके समय उनके भ्रू-भंगीमात्रसे यह सारा संसार और मेरा लोक भी नहीं रहेगा। तुमने उनके भक्तसे द्रोहकर बड़ी भूल की है। मैं तुम्हारी रक्षा करनेमें बिलकुल असमर्थ हूँ।'

जब ब्रह्माजीने इस प्रकार दुर्वासाजीको निराश कर दिया, तब वे विकल होकर कैलासमें शङ्करजीकी शरणमें गए। श्रीमहादेवीजीने कहा—'वत्स! उन परम पुरुष विष्णु भगवान्‌के निकट मेरा कुछ भी नहीं चलेगा। हम उनकी आज्ञाके दास हैं। मैं सनत्कुमार, नारद, कमलयोनि ब्रह्मा, कपिल, व्यासदेव, देवल, धर्म, आसुरी और मरीचि आदि दूसरे सर्वज्ञ सिद्धेश्वर—हम सभी भगवानकी मायाको जान नहीं पाते। क्योंकि हम लोग उन्हींकी मायाके वशीभूत हैं। अतएव उन विश्वेश्वरका चक्र हमारे लिये भी असह्य है। तुम उन्हींकी शरणमें जाओ। वे भगवान् ही तुम्हारा मङ्गल करेंगे।' वहाँसे भी निराश होकर एवं कोई दूसरा उपाय न देखकर दुर्वासाजी भागते-भागते भगवानके परमधाम वैकुण्ठमें गये, जहाँ भगवान नारायण श्रीलक्ष्मीजीके साथ निवास करते हैं। वे भगवानके पैरों पर गिर कर बड़े आर्तस्वरसे बोले—'हे अच्युत! हे अनन्त! साधुजनोंको अभय प्रदान करनेवाले! मैंने बहुत बड़ा अपराध किया है। हे विश्वके जीवनदाता! मेरी रक्षा कीजिए। प्रभो! मैं तुच्छजीव हूँ, आपका प्रभाव न जाननेके कारण ही मैंने आपके प्यारे भक्तके प्रति अपराध किया है। प्रभो! मुझे बचाइये। आपका नाम उच्चारण कर जब बड़े-से बड़े नारकी जीव भी मुक्त हो जाते हैं, तब मेरा उद्धार क्यों न होगा?'

दुर्वासाजीकी बात सुन कर भगवानने कहा—'दुर्वासाजी! मुझमें तनिक भी स्वतन्त्रता नहीं है। मैं तो सर्वथा भक्तोंके अधीन हूँ। मेरे निष्कपट और सरल-सीधे भक्त मुझे बड़े प्रिय हैं, उन्होंने मेरे हृदय पर अपना पूर्ण अधिकार कर रखा है। भक्तजन मुझसे प्यार करते हैं और मैं उनसे। मुनिवर! मैं ही उनकी एकमात्र गति हूँ, उनको छोड़ कर लक्ष्मी, यहाँ तक कि अपनी आत्मा भी मुझे प्रिय नहीं है। जो पुत्र, स्वजन, धन, प्राण, इहलोक और परलोक—सब कुछ छोड़कर मेरी शरणमें आगये हैं, उन्हें मैं कैसे छोड़ सकता हूँ? जैसे पतिव्रता नारी अपने सदाचारी पतिको वशमें कर लेती हैं, उसी प्रकार सर्वत्र

समदर्शी सन्तजन मेरे साथ अपने हृदयका भाव रख कर मुझे अपने वशमें कर लेते हैं। मेरे अनन्यप्रेमी भक्त मेरी सेवाके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं चाहते। उनकी सेवाका उद्देश्य एक मात्र मेरी सेवा —मेरी प्रसन्नता ही है। उसके बदले वे सालोक्य, सार्ष्टय आदि मुक्तियोंको भी स्वीकार नहीं करते। फिर अनित्य नश्वर भोगोंकी तो बात ही क्या है? दुर्वासाजी! मैं आपसे अधिक क्या कहूँ, मेरे प्रेमी भक्त ही मेरे हृदय हैं और उनका हृदय मैं स्वयं हूँ। वे मेरे अतिरिक्त और कुछ नहीं जानते और मैं भी उनके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं जानता। मैं आपको एक उपाय बतलाता हूँ। आपने जिसका अपराध किया है, उसीके पास जाइये। निरपराध सन्तोंका अनिष्ट करनेवालेका ही अमङ्गल होता है। यह ठीक है कि विद्या और तपस्या ब्राह्मणोंके लिये कल्याणके साधन हैं, परन्तु उद्दण्ड और अन्यायी ब्राह्मणके लिये ये दोनों उलटा फल ही प्रदान करते हैं। अतएव आप महाराज अम्बरीषके यहाँ जाइये और क्षमा माँगिये। वे आपको क्षमा कर देंगे।'

भगवानकी आज्ञा पाकर चक्रकी असह्य तेजसे जलते हुए दुर्वासा लौटकर अम्बरीषके निकट पहुँचे और अत्यन्त दुःखी होकर उनके पैर पकड़ लिये। दुर्वासाजीको अत्यन्त भयभीत और व्याकुल देखकर और उनके चरण पकड़नेसे लज्जित होकर महाराज अम्बरीष भगवान्‌के चक्रकी स्तुति करने लगे। उस समय उनका हृदय दयावश अत्यन्त द्रवित हो रहा था। उन्होंने कहा—'हे सुदर्शन! आप अग्निस्वरूप हैं। आप ही तेजमय सूर्य हैं। मैं आपको नमस्कार करता हूँ। आप समस्त लोकोंके रक्षक, समस्त अस्त्रों-को नष्ट कर देनेवाले, अधर्मका आचरण करनेवाले असुरोंको भस्म करनेवाले एवं धर्मकी मर्यादाके रक्षक हैं। आपकी गति मनके समान है तथा कर्म अद्भुत हैं। हे भगवानके प्यारे आयुध! हे विश्वके रक्षक! आप कृपा कर इन ब्राह्मणकी रक्षा कीजिए। हमारे ऊपर यह आपका महान् अनुग्रह होगा। यदि मैंने कुछ दान किया हो, यज्ञ किया हो अथवा अपने धर्मका पालन किया हो, यदि सभी जीवोंके एक मात्र प्रभु भगवान मुझपर प्रसन्न हों, तो उनकी कृपासे यह ब्राह्मण इस संकटसे मुक्त हो जाय। इनकी जलन मिट जाय।'

इस प्रकार महाराज अम्बरीषकी प्रार्थना सुनकर चक्र शान्त हो गये। दुर्वासाजी चक्रकी अग्निज्वाला से मुक्त हो गये। उनका संकट दूर हो गया। वे राजा अम्बरीषको अनेकों आशीर्वाद देते हुए उनकी बार-बार प्रशंसा करने लगे। उन्होंने कहा—'धन्य हैं! आज मैंने अनन्त भगवानके दासोंका महत्व देखा। मैंने आपका अपराध किया, फिर भी आपने मेरे अन्याय आचरणका तनिक भी ख्याल न कर मेरी कल्याण-कामना ही कर रहे हैं। जिन्होंने भक्त-वत्सल भगवान श्रीहरिके चरण-कमलोंको दृढ़तासे पकड़ रखा है, अपने प्रेमभावसे भगवानको अपने वशमें कर रखा है—उन साधु पुरुषोंके लिये कौन सा कार्य कठिन है? जिनका चित्त उदार है, जो भक्तिधनके धनिक हैं, वे भक्तजन भला, किस वस्तु-का परित्याग नहीं कर सकते? जिनके मङ्गलमय नामों के श्रवणमात्रसे जीव निर्मल हो जाता है, उन तीर्थ-पद भगवानके दासोंके लिये कौन सा कर्त्तव्य शेष रह जाता है? वे क्या नहीं कर सकते? महाराज! आप बड़े ही दयालु हैं। आज आपने मेरे ऊपर महान् अनुग्रह किया। आपने मेरे अपराधको भुला-कर मेरे प्राणोंकी रक्षा की है।'

अपनी प्रशंसा सुन कर महाराज अम्बरीष बड़े लज्जित हुए। अब वे दुर्वासाजीके चरण पकड़ लिये और उनको प्रसन्न करके विधिपूर्वक भगवत्प्रसाद भोजन कराया। दुर्वासाजी भोजन कर तृप्त हो गये। अब उन्होंने बड़े आदरसे कहा—'राजन! अब आप भी प्रसाद पाइये। आप परम भगवद्भक्त हैं। आपके दर्शन, स्पर्श, वार्तालाप और वैष्णवोचित आतिथ्यसे मैं बहुत ही प्रसन्न और अनुगृहित हुआ हूँ। स्वर्गकी देवाङ्गनाएँ और पृथ्वीकी नर-नारियाँ आपकी इस पवित्र कीर्त्तिका गान करेंगी। इस प्रकार

दुर्वासाजी महाराजको सन्तुष्ट करके आकाश मार्गसे ब्रह्मलोकको चले गये।

जबसे दुर्वासा ऋषि चक्रसे भयभीत होकर भगे थे, तबसे लेकर उनके लौटने तक एक वर्षका समय बीत गया था। महाराज अम्बरीष इतने दिनों तक केवल जल पीकर ही दुर्वासाजीके लौटनेकी राह देख रहे थे। सभासदोंके बार-बार अनुरोध करने पर भी वे अपने स्थानसे नहीं हटे। दुर्वासाजीके चले जाने पर भगवानकी करुणा, भक्तवत्सलता आदिका स्मरण करते २ उन्होंने भगवानका बचा हुआ प्रसादान्न भोजन किया। अपने कारण दुर्वासाजीका विपत्तिमें पड़ना और फिर अपनी ही प्रार्थनासे उनकी विपत्ति का दूर होना—इन दोनों बातोंको अपने द्वारा होने-पर भी उसे भगवान्‌की ही महिमा समझा। इस प्रकार राजा अम्बरीषमें अनेकों गुण थे। उनकी अनन्य भक्तिका ही यह फल था कि वे ब्रह्मलोक तकके समस्त भोगोंको नरकके तुल्य समझते थे। अनन्तर महाराज अम्बरीषने अपने योग्य पुत्रोंको राज्यका भार देकर स्वयं वे वनमें चले गये। वहाँ वे एकान्त और पवित्र स्थानमें चित्तको स्थिर कर भगवान वासुदेवके ध्यान और चिन्तनमें शेष जीवन बिताये और अन्तमें संसारसे मुक्त होकर भगवानके परम धामको चले गये।

यहाँ प्रश्न हो सकता है, कि जब महाराज अम्ब-रीष घर पर रह कर ही अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियों द्वारा आठों प्रहर भगवानकी सेवा करते थे, तब उनके बन जानेका तात्पर्य क्या है? इसके उत्तरमें यह कहा जा सकता है कि श्रेष्ठ व्यक्ति जैसा आचरण करते हैं, दूसरे व्यक्ति उसीका अनुगमन करते हैं। गृहस्थ आश्रममें नियमानुसार भगवद्भजन करनेके पश्चात् सब लोगोंको वानप्रस्थ अवलम्बन करना चाहिए। जैसे धनवान वणिक और भी अधिक धन पानेके लोभसे विदेशादिमें गमन कर धनोपार्जन करता है, उसी प्रकार परम भक्त महाराज अम्बरीष भी अधिक भक्ति-सम्पत्ति उपार्जन करनेके लिये वानप्रस्थमें प्रवेश किये थे।

श्रीशचीनन्दन गौर हरि

जय नन्दनन्दन गोपीजन-वल्लभ
राधानायक नागर श्याम।
सो शचीनन्दन नदिया-पुरन्दर
सुर-मुनिगण-मनोमोहन धाम॥
जय निजकान्ता कान्ति कलेवर
जय जय प्रेयसी-भाव विनोद।
जय ब्रज-सहचरी लोचन-मङ्गल
जय नदीयावासी-नयन-आमोद॥
जय जय श्रीदाम सुदाम, सुबलार्जन
प्रेमवर्द्धन नवघन रूप।
जय रामादि सुन्दर प्रिय सहचर
जय जगमोहन गौर अनुप॥
जय अतिबल राम-प्रियानुज,
जय जय नित्यानन्द आनन्द।
जय जय सज्जन- गण-भय भञ्जन
गोविन्द दास आश अनुबन्ध॥

श्रीकृष्ण जयन्ती-तिथिके उपलक्ष्यमें

श्रीआचार्यदेवका भाषण

आज जन्माष्टमी है। 'जन्माष्टमी' कहनेसे साधारणतः श्रीकृष्ण-आविर्भावका बोध होता है। परन्तु सूक्ष्मरूपसे विचार करने पर ऐसा प्रतीत होगा कि साधारणतः जन्माष्टमी जिस प्रकारसे मनायी जाती है, वह कृष्णकी जन्माष्टमी न होकर वासुदेवकी जन्माष्टमी है। 'हरिवंश' के विचारके अनुसार श्रीकृष्ण (गोकुलमें) और वासुदेव (मथुरा में)—दोनों एक ही समय एक ही उमा-महेश्वरी तिथिमें आविर्भूत हुए थे। 'कृष्ण' और 'वासुदेव'—ये दोनों शब्द हमारे हृदयमें दो तत्त्वोंका आविर्भाव कराते हैं। केवल माध्वगौड़ीय वैष्णव सम्प्रदायमें ही नहीं, अपितु सभी सम्प्रदायोंमें जन्माष्टमीका व्रत रखा जाता है। यहाँ तक कि आचार्य शङ्कर भी इस व्रतका उल्लंघन करनेका साहस नहीं कर सके हैं। स्मार्त्त लोग भी आचार्य शङ्करका पदाङ्कानुसरण कर आज भी घर-घरमें जन्माष्टमी व्रत पालन करते हैं। परन्तु ध्यानपूर्वक विचार करने पर पता चलता है कि गौड़ीय-वैष्णवोंके अतिरिक्त दूसरे समस्त सम्प्रदायों या स्मार्त्त आदि व्यक्तियों द्वारा जिस जन्माष्टमीका व्रत अनुष्ठित होता है, वह वासुदेवकी जन्माष्टमी है, कृष्णकी जन्माष्टमी नहीं। कृष्ण-जन्माष्टमीका पता बहुतोंको नहीं है। वासुदेवका दूसरा नाम कृष्ण है, इसलिये वासुदेवकी जन्माष्टमीको कृष्णकी जन्माष्टमी कहा जाता है। परन्तु वास्तवमें गंभीररूपसे विचार करने पर इनमें कुछ रसगत वैशिष्ट्य वर्त्तमान रहनेके कारण भेदकी प्रतीति होगी।

गीताके प्रतिपाद्य कुरुक्षेत्रके कृष्णको हम वासुदेव कहते हैं। वही वासुदेव कृष्ण गीताके चौथे अध्यायके ९ वें श्लोकमें कहते हैं—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

अर्थात् अचिन्त्य शक्तिके द्वारा मैं जो जन्म और कर्म स्वीकार करता हूँ, उसे जो व्यक्ति तत्त्वतः दिव्य जान लेता है, वह शरीर त्यागकर पुनः जन्म नहीं ग्रहण करता। तात्पर्य यह कि जो व्यक्ति भगवान्‌के जन्म-तत्त्वको तत्त्वसे जान लेते हैं कि वह सम्पूर्ण दिव्य अर्थात् अप्राकृत है, तब वह कर्म-बन्धनसे छुटकारा प्राप्त कर भगवानके परम धाममें गमनकर उनके चरण कमलोंकी सेवा लाभकर कृतार्थ हो जाता है।

जिनको तत्त्वज्ञान नहीं है, वे भगवानके जन्म और कर्मको प्राकृत समझते हैं। इस प्राकृत-बुद्धिके कारण वे संसार-बन्धनमें पड़कर जन्म-मरणके चक्करमें घुमनेके लिये बाध्य होते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं—मेरा जन्म दिव्य है अर्थात् अप्राकृत है। श्रीरामानुजाचार्यने 'दिव्य' शब्दका अर्थ किया है—'अप्राकृत'। 'अद्वैतसिद्धि' नामक ग्रन्थके रचियिता मधुसूदन सरस्वतीने भी श्रीजीव गोस्वामीकी शिक्षाके प्रभावसे अद्वैतवादका मार्ग छोड़कर 'दिव्य'—शब्दका अर्थ—'अप्राकृत' ही ग्रहण किया है। श्रीधर स्वामीने भी 'दिव्य'—शब्दका अर्थ 'अलौकिक' स्वीकार किया है। अतएव स्वयं भगवानने ही अपने जन्मका अप्राकृतत्व, अलौकिकत्व एवं अस्वाभाविकत्व स्थापित किया है। श्रीगीता भगवानकी साक्षात् वाणी होनेके कारण वेदतुल्य अपौरुषेय है। इसमें तर्ककी तनिक भी गुंजाइश नहीं। हम वासुदेवके जन्ममें ही अलौकिकत्व लक्ष्य करते हैं। वसुदेव और देवकी कंसके कारागारमें बन्द हैं। वहीं पर वासुदेव चतुर्भुज मूर्त्तिमें आविर्भूत होते हैं, चारों

हाथोंमें शंख, चक्र, गदा और पद्म सुशोभित हैं, गलेमें वैजयन्ती माला शोभा पा रही है, कटि-प्रदेशमें पीताम्बर झलमल कर रहा है, कानोंमें कुण्डल और सिर पर मुकुट है। प्रकट होते ही माता-पिताको अभय प्रदान करते हैं; माता-पिता हाथ जोड़ कर उनकी स्तुति करते हैं। ऐसी बातें इस लोकमें नर-चरित्रमें सम्भव नहीं हैं। इसलिये 'वासुदेव' का जन्म अलौकिक है। परन्तु कृष्णके जन्ममें कोई अलौकिक बात नहीं देखी जाती। साधारण रूपमें मनुष्यकी तरह ही यशोदानन्दन कृष्णकी नर-लीला प्रकटित होती है। फिर भी कृष्णकी यह नर-लीला ही परतत्त्व है। यही गूढ़ रहस्य है।

अपने आविर्भावके पहले ही कृष्णने असुरोंके अत्याचारसे पीड़ित ब्रह्मा आदि देवताओंको आश्वासन दिया था कि वे शीघ्र ही देवकी के आठवें गर्भसे आविर्भूत होकर कंस आदि अत्याचारी राजाओं और असुरोंको मार कर उनकी रक्षा करेंगे। देवकीके विवाहके समय दैव-वाणीके द्वारा कंसको भी यह संवाद मिल गया था। देवकीका आठवाँ गर्भ था। कंस और उसके साथी अत्यन्त भयभीत और त्रस्त हो पड़े। वे किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गये। कंस उस समय देशका राजा था। अतएव उसपर भावी विपत्तिकी खबर चारों ओर फैल गयी। सोऽहंवादी असुर अत्यन्त चिन्तित हुए। परन्तु इस खबरसे असुर-द्रोही देवता और निर्लिप्त भक्तजन बड़े आनन्दित हुए। उनके आनन्दकी सीमा न रही। वे आहार-निद्रा-भय और मैथुन आदि सबकुछ छोड़कर कंसनिसूदन वासुदेवके जन्मकी प्रतीक्षा करने लगे। इसीलिये आपलोग भी उसी प्रकार आनन्द-स्वरूप पूर्णब्रह्म श्रीकृष्णके आविर्भावके उपलक्ष्यमें आज सूर्योदयसे लेकर अब १२ बजे रात तक बिना अन्न-जल खाये-पीये—निर्जला उपवास रखे हैं। सबका उद्देश्य है—कृष्णके आविर्भावकी प्रतीक्षा। इसीका नाम उपवास है।

उपवासमें दुःख-क्लेश अनुभव करना प्राकृत देह-स्मृतिका लक्षण है। यह अप्राकृत कृष्ण-स्मृतिका लक्षण नहीं है। अप्राकृत आनन्दमयके आविर्भाव की प्रतिक्षा करनेमें किसी प्रकारका क्लेश या थकान अथवा भूख-प्यासकी अनुभूति नहीं होती। जिस प्रकार सूर्योदयके पहले ही अन्धकार नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार कृष्णके आविर्भाव-चिन्तनमें अथवा कृष्ण-सेवामें मग्न रहनेसे जीवमात्रके सारे सांसारिक क्लेश सम्पूर्णरूपसे दूर हो जाते हैं। सूर्योदयकी आभास-ज्योतिका अर्थात् अरुणोदयकालका माहात्म्य ही ऐसा है कि उसकी शीतल और स्निग्ध आलोकमालाएँ सोलह कलाओंसे पूर्ण चन्द्रके आलोकसे भी अधिक जीवोंके अज्ञानान्धकारको दूरकर ज्ञानोन्मेषक हुआ करती है। अतएव कृष्णकी जन्माष्टमीके दिन उपवास ही आनन्दोत्सव है। इस दिव्यज्ञानका उन्मेष हुआ करता है।

हरिभक्तिविलासमें उपवासके लक्षण निरूपण-प्रसंगमें ऐसा कहा गया है कि—'नोपवासस्तु लंघने।''—अर्थात् केवलमात्र खाना-पीना परित्याग करना ही उपवासका लक्षण नहीं है। कृष्ण-सेवामय श्रवण-कीर्त्तनमें विभोर होकर आहार, निद्रा आदि स्थूल और सूक्ष्म शरीरकी सारी क्रियाओंको भूल जाना ही उपवास है।

मैंने पहले ही कहा है कि वासुदेव अर्थात् देवकी नन्दन कृष्ण और यशोदानन्दनकृष्ण—दोनोंका जन्म युगपत् एक ही मुहूर्त्तमें हुआ था। अतएव जन्माष्टमी कहनेसे हम यहाँ पर यशोदानन्दन कृष्णको भी लक्ष्य करते हैं। नन्द महाराजके गृहमें माँ यशोदाके गर्भसे आज श्रीकृष्ण जन्म लिये। अनन्तर योगमाया देवी भी यशोदाके गर्भसे पैदा हुईं। माँ यशोदा अधिक उम्रमें पुत्र और कन्या—दो सन्तान एक ही साथ प्रसव करनेके कारण कुछ अचेतन सी हो पड़ती हैं। सर्वशक्तिसमन्वित आनन्दके मूर्त्तिमान विग्रहके आविर्भूत होनेपर निरानन्द या क्लेशकी संभावना नहीं होती। परन्तु माँ यशोदामें इसके विपरीत लक्षण देखा जाता है। ऐसा देखकर कुछ हेतुवादी कृष्णको

तथा कृष्ण-जन्मको प्राकृत कहनेका दम भरते है। परन्तु इसमें एक तात्त्विक गूढ़-रहस्य है, जिसे प्राकृत ज्ञानी समझ नहीं पाते। मैं आज इस विषयमें दो-एक बातें बतलाकर अपना वक्तव्य समाप्त करूँगा।

श्रीमद्भागवत (१०।३।४६) में श्रीशुकदेव गोस्वामी महाराज परीक्षितको कह रहे हैं—वसुदेव और देवकी स्तुति सुनकर भगवान वासुदेव महाराज वसुदेव और श्रीदेवकीजीको अपने और उन दोनोंके पूर्वजन्म का परिचय बतलाकर चुप हो गये। तदनन्तर माता-पिताके देखते-देखते ही अपना चतुर्भुज रूप गोपन कर तुरन्त एक साधारण बच्चा—प्राकृत शिशु हो गये। पूरा श्लोक यह है—

इत्युक्त्वाऽऽसीद्धरिस्तूष्णीं भगवानात्ममायया।
पित्रोः सम्पश्यतोः "सद्यो बभूव प्राकृतः शिशुः॥"

उपर्युक्त श्लोकके "सद्यो बभूव प्राकृतः शिशुः"—इस अंशको लेकर अद्वैतवादी सम्प्रदाय ही नहीं, अपितु श्रीरामानुज आदि आचार्योंने भी श्रीकृष्णकी स्वयं भगवत्ताके प्रति संदेहकर कटाक्ष किये हैं। फल-स्वरूप श्रीकृष्णचन्द्रको कोई-कोई प्राकृत (मरणशील) मनुष्य मानते हैं और कोई-कोई परतत्त्व, अवतारी, अंशी अथवा मूल-पुरुष न मानकर अवतार या अंश मानते हैं। इन चोटीके और प्रसिद्ध आचार्यों द्वारा अपने मूल उपास्य-तत्त्वके प्रति कटाक्षपूर्ण वचनोंको लक्ष्यकर श्रीगौड़ीय वैष्णवोंने उन विचारों और वचनोंका सम्पूर्णरूपसे खण्डन किया है। दूसरी तरफ श्रीमध्वाचार्यने श्रीकृष्णके परतमत्व-के सम्बन्धमें जैसा सर्वांगसुन्दर विचार प्रस्तुत किया है, उसे श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने सर्वतोभावेन अंगीकार कर उनको ही अपने सम्प्रदायका आचार्य माना है। श्रीधर स्वामीचरणने इस श्लोकके ऊपर कोई टीका-टिप्पणी लिखकर श्रीकृष्णका परतमत्व स्थापन नहीं किया है। श्रीमद्भागवतके उक्त श्लोकके द्वारा शंख-चक्र-गदा-पद्माधारी चतुर्भुज वासुदेव ही प्राकृत शिशुकी तरह द्विभुज रूप अंगीकार किये हैं—यही शुकदेव गोस्वामीकी परीक्षितके निकट उक्ति है। श्रीशुकदेव गोस्वामीने महाराज परीक्षितके बहाने समग्र विश्ववासी और सभी धार्मिक सम्प्रदायोंको शिक्षा दी है कि - द्विभुज कृष्ण ही परतत्त्व है, चतुर्भुज वासुदेव परतत्त्व नहीं हैं। 'प्राकृत'—शब्दसे यहाँ 'प्रकृतिके गुणोंसे उत्पन्न' ऐसा नहीं समझना चाहिए। 'प्राकृत'—शब्दका तात्पर्य है—प्रकृतिजात अर्थात् प्रकृतिसे उत्पन्न। 'प्रकृति'—शब्दका अर्थ सभी कोषकारोंने 'स्वभाव' स्वीकार किया है। इस विषयमें कोई दो मत नहीं हैं। अतएव यहाँ प्रकृतिका अर्थ स्वभाव ही मानना युक्तिसंगत है। ग्रन्थकारका यही अभिप्रेत अर्थ है।

'स्वभाव'—कहने से 'निजस्व भाव', अथवा स्वरूपगत भावका बोध होता है। अतएव 'सद्यो बभूव प्राकृतः शिशुः' कहनेसे ऐसा समझना चाहिए कि वासुदेव अपने निज स्वभाव अर्थात् स्वरूपको प्राप्त हुए। भगवानने वसुदेव और देवकीको जो चतुर्भुज वासुदेव रूप कुछ देर पहले दिखलाया था, वह उनका प्रकृतिगत या स्वभावगत निजस्व रूप नहीं है। अर्थात् द्विभुज रूप ही-जिसे पीछेसे देवकी और वसुदेवको दिखलाया—उनका प्रकृतिगत या स्वभावगत निजस्वरूप है। अतएव श्रीमद्भागवतके उपर्युक्त श्लोक द्वारा ही श्रीरामानुज आदि आचार्योंके मतोंका खण्डन हो जाता है तथा उसीके द्वारा परतत्त्वका द्विभुजत्व भी स्थापित होता है। यही द्विभुज परतत्त्व मथुरासे वसुदेव महाराजद्वारा गोकुलमें लाये गये और वहाँ वे नन्दभवनमें आविर्भूत कृष्ण-परतत्त्वमें अर्पित हुए। द्विभुज कृष्णने तत्क्षण ही द्विभुज वासुदेवको आत्मसात् कर लिया।

—श्रीगौड़ीय पत्रिकासे अनुदित

———

मनुष्यके कुकर्म भगवान्‌की लीला नहीं है

[पूर्व-प्रकाशित वर्ष ५, संख्या ५, पृष्ठ १०८ से आगे]

वास्तवमें प्रत्येक जीवात्मा भगवान्‌का ही एक एक विभिन्नांश (शक्तिपरिणत-तत्त्व) है। भगवान्‌की आनन्द-चिन्मय-रसमयी लीलाकी पुष्टिके लिये भगवान्‌की जीवशक्तिसे अनन्त कोटि जीवात्माओंका प्रकाश हुआ है।

मायावादी लोग मनुष्यके दुःख भोगको भगवान्‌की लीला कह कर साधारण जन-समूहको विपथगामी करते हैं। एक बड़े वकील महोदय बहुत ही पूजा-पाठ करते। साथ ही मांस, मछली, अण्डा आदि भी खाते। जब उनसे पूछा गया कि आप पूजा-पाठ करते हैं, फिर मांस-मछली और अण्डे आदि क्यों खाते हैं ? तो उन्होंने यह उत्तर दिया कि 'सब कुछ ब्रह्म है; मांस-मछली भी ब्रह्म है, और मांस खानेवाले भी ब्रह्म हैं। अतएव जब ब्रह्म ब्रह्म ही को खाता है, तो यह समझना चाहिए कि यह सब कुछ ब्रह्म ही की लीला है। पाप-पुण्य सभी माया हैं। वास्तवमें सबकुछ ब्रह्म है।' परन्तु यदि ऐसा ब्रह्मज्ञान (?)जगत्‌में प्रचारित हो, तो मनुष्य न जाने कहाँ तक पापाचार करने लगे और कुछ ही दिनोंमें जगत्‌का ध्वंस हो जाय। जीवात्मा और परमात्माको एक माननेवाले तथा प्राणियोंके सांसारिक दुःख-सुख-भोगको भगवान्‌की लीला बतलानेवाले अपना उक्त ब्रह्मवाद सुनाकर पापियोंको और भी अधिक पाप करनेके लिये उत्साहित करेंगे कि 'वे जो कुछ भी करते हैं, ठीक ही है, क्योंकि पाप-पुण्य सब-कुछ ब्रह्मकी ही लीला है। वास्तवमें सभी ब्रह्म हैं।'

जीवात्मा और परमात्मा किस विषयमें एक हैं, इस विषयको भी समझना है। जीवात्मा भगवान्‌का अंश है। अतएव पदार्थ-तत्त्वकी दृष्टिसे दोनों एक हैं। परन्तु अंश कभी भी पूर्ण अथवा पूर्णके बराबर नहीं हो सकता। पूर्णकी शक्ति पूर्ण है और अंशकी शक्ति आंशिक है। Part equal to the whole ऐसा कभी नहीं हो सकता। यदि अंश जीवात्मा समस्त विषयोंमें पूर्ण अर्थात् भगवानके सहित एक होता तो वह कभी भी मायाके वशमें नहीं होता। परन्तु जीवात्मा किसी विशेष परिस्थितिमें मायाके अधीन हो पड़ता है। दूसरी तरफ, भगवान मायाके अधीन कभी नहीं होते। भगवान मायाके पति हैं, माया भगवानके अधीन होती है। माया भगवानकी इच्छासे ही चराचर जगतका प्रसव करती है। यह श्रीभगवद्गीताका सिद्धान्त है।

अंशका स्वाभाविक धर्म अंशीकी सेवा करना है। यदि अंश अंशीकी सेवासे किसी कारणवश विमुख हो जाता है, तो वह उस समय मायाबद्ध हो जाता है। मायाबद्ध जीव (अंश) शोधनके योग्य होता है और शुद्ध होने पर अंशीके साथ परस्पर परमानन्दका भोग करता है।

उदाहरण स्वरूप कहा जा सकता है कि हरेक प्रजा राज्यका अंश-स्वरूप है। राज्य और जाति आजकल पृथक नहीं हैं। ऐसी दशामें प्रत्येक प्रजाको समष्टि जातिकी उन्नतिके लिये यथासाध्य प्रयत्न करना चाहिए। प्रयत्न करनेमें प्रत्येक प्रजा (व्यक्ति) स्वतन्त्र है। यदि कोई कार्य उसकी इच्छाके अनुसार न भी हो, तौभी साधारणतः उसे राष्ट्रकी विधियोंको मानकर ही चलना चाहिए। परन्तु यदि कोई व्यक्ति राष्ट्रकी विधियोंको अस्वीकार कर उनका उल्लङ्घन करता है, तब उसे कैदकर कारागारमें बन्द कर दिया जाता है। अतएव एक ही राज्य के प्रशासनमें दो

प्रकारका जीवन दृष्टिगोचर होता है—एक जेलके अन्दर परतन्त्र जीवन, दूसरा जेलसे बाहर स्वच्छन्द या स्वतन्त्र जीवन। यदि कोई इन दोनों प्रकारके जीवनों को एक ही माने तो जिस प्रकार लोग उसे पागल समझते हैं, उसी प्रकार सच्चिदानन्द भगवानकी नित्यलीला और मायिक ब्रह्माण्डके त्रिताप-यंत्रणाओं से पूर्ण बद्धजीवोंके कर्मफल भोगमय जीवन—इन दोनोंको एक समझनेवालोंको भी लोग विकृत मस्तिष्क या अज्ञानी ही समझते हैं। विकृत मस्तिष्कवाले मायावादी मायिक कारागारके आभ्यन्तरिक जीवन की तिक्तता अनुभव करके उससे बाहर स्वतन्त्र जीवन को निर्विशेष अवस्था, भगवान् और जीवात्माको एक और मायिक कर्मफलभोगमय जीवनको भगवान की लीला मानते हैं। इसलिये वे समाजमें हास्यास्पद होते हैं।

जैसे विद्रोही प्रजाके लिये राज्य सरकार द्वारा निर्मित कारागार मिथ्या नहीं है; उसी प्रकार विमुख जीवके लिये भगवानका रचा हुआ मायिक ब्रह्माण्ड भी मिथ्या नहीं है। तत्त्वविद पण्डितोंने इसे तात्कालिक बतलाया है परन्तु मायावादी इसके विपरीत मायिक ब्रह्माण्डको मिथ्या बतलाते हैं। वास्तवमें यह मायिक ब्रह्माण्ड भगवद्विमुख जीवोंको दण्ड देनेके क्षेत्रके रूपमें ही रचा गया है। जिस प्रकार राज्य सरकार यह नहीं चाहती कि उसकी प्रजाएँ जेलमें बन्द रहें, उसी प्रकार भगवान् भी यह नहीं चाहते कि उनके अंश जीव मायाके कारागार जगत् में प्राकृत, स्थूल और सूक्ष्म शरीरमें बँधा रह कर सदा दुख भोग करे। जैसे विद्रोही प्रजा राज्य सरकारको कारागार बनानेके लिये बाध्य करती है, उसी प्रकार भगवद् विमुख जीव भगवान्की सेवासे विच्युत होकर मायिक क्लेशयुक्त संसारकी रचनाके कारण हैं। यदि राज्यमें दुष्ट या विद्रोही प्रजा न रहे तो जैसे कारागारकी आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार यदि भगवान्की नित्यलीलासे कोई जीव विमुख न हो, तो मायिक ब्रह्माण्डकी रचना भी सदाके लिये बन्द हो जाय। परन्तु ऐसा होना नहीं है। राज्यकी स्थापनाके साथ-ही-साथ कारागारका निर्माण आवश्यक होता है, उसी प्रकार अनादि बहिर्मुख जीवात्माओंके लिये मायिक ब्रह्माण्डकी रचना भी अनिवार्य है। यदि कोई मायिक ब्रह्माण्डसे निकलकर भगवान्की नित्यलीलामें प्रवेश करना चाहे, तो वह उधर जा सकता है और भगवान्की नित्यलीलामें भाग ले सकता है। परन्तु परतत्त्वको निर्विशेष माननेवाले मायावादियोंकी बुद्धि मायाद्वारा आच्छादित रहनेके कारण वे भगवान्की नित्यलीलाको समझ नहीं पाते। भगवान् कृपा कर जब अपनी नित्यलीलाको इस भौम जगत्में प्रकट करते हैं, तब मायावादी उस चिन्मयी लीलाको भी मायिक समझते हैं, इतना ही नहीं वे उसे साधारण जीवों के सांसारिक कर्मफल भोगके साथ समान समझते हैं। इसीलिये वे जीवोंके दुःखमय कर्मफल भोगको भी भगवान्की लीला मानते हैं। परन्तु उनकी यह मान्यता सम्पूर्ण निराधार और भ्रामक है। उनके मतानुसार केवलमात्र चिन्मात्र निर्विशेष ब्रह्मज्योतिके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। कारागारके बाहर कारागारका दुःखमय जीवन नहीं है—यह बात ठीक है, परन्तु यह कहना कि कारागारके बाहर किसी प्रकारका जीवन ही नहीं है, सब शून्य है—निरी पागलपनकी बात है। नित्य चिन्मयी सत्ताको अस्वीकार करनेके कारण—अर्थात् चिन्मयी सत्ताका विनाश चाहनेवाले निर्विशेषवादी कहे गये हैं।

मायावादी कर्मफल द्वारा निर्मित दुःखमय जीवनको भगवान्की लीला बतलाकर किस हद तक अपनी अज्ञानताका परिचय देते हैं, इस विषयमें श्रीगीताका निर्णय देखिये—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥
नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥
ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥

परमेश्वर मनुष्योंके न तो कर्त्तापनकी, न कर्मोंकी और न कर्मफल संयोगकी ही रचना करते हैं, जीवका अविद्याकृत स्वभाव ही इनका कारण है। परमेश्वर जीवके पापकर्म और पुण्यकर्मको ग्रहण नहीं करता। अविद्याशक्ति (अज्ञान) द्वारा बद्ध हुआ जीव देहात्माभिमानरूप मोह प्राप्तकर अपनेको कर्मकर्त्ता अभिमान करता है। परन्तु जिनका यह प्राकृत ज्ञान (अज्ञान) अप्राकृत ज्ञानके द्वारा नष्ट हो जाता है, वे अप्राकृत परतत्त्वका दर्शन करते हैं।

अतएव जीवात्माको परमात्मा बतलाना बड़ी मूर्खता है। भगवान किसीको देवता और किसीको असुर, किसीको मनुष्य और किसीको विष्ठाभोजी सूअर नहीं बनाते। वे किसीको पापकर्म, और किसीको पुण्य कर्म करनेको नहीं कहते। परन्तु यह सब कुछ बद्धजीवके अविद्याद्वारा निर्मित स्वभावसे ही होता है। अर्थात् जीवका अज्ञानसे बना हुआ स्वभाव ही इनका कारण है। यह सब भगवानकी लीला कतई नहीं है, जैसाकि स्वामीजीने समझा था। भला भगवानको भी कभी अज्ञान ढक सकता है? भगवानतो सदा-सर्वदा पूर्णविज्ञ स्वराट वस्तु हैं। सौभाग्यसे किसी जीवको जब सद्‌गुरुका संग प्राप्त होता है, तभी वह समझ सकता है कि भगवान् प्रभु हैं, जीवदास हैं, भगवान पूर्ण हैं, वृहद् हैं, और जीव क्षुद्र है, भगवान मायापति है और जीव मायावश्य है। अणु या क्षुद्र जीवको विभु परमात्मा मानना या बतलाना बड़ा अपराध है। यथार्थ ज्ञान उदित होने पर जीव भगवान् वासुदेवके चरणोंमें शरणागतहो जाता है और अपनी मूढ़ता छोड़कर गोविन्दकी सेवामें अपनेको नियुक्त कर देता है।

उपरोक्त श्लोकसे यह स्पष्ट हो गया कि मनुष्य का दुःख भोग भगवानकी लीला नहीं है, जैसाकि स्वामीजीने कहा है। पाप और पुण्य कर्मोंसे उत्पन्न मायिक दुःख और सुखका कारण अज्ञानद्वारा पैदा हुआ जीवका स्वभाव है। भगवान् किसीको पाप-पुण्य कर्मोंमें नहीं फँसाते। जीव स्वयं अपनी स्वतंत्रताका अपव्यवहार करके इनमें फँसता है। जिस प्रकार प्रथम श्रेणीका कैदी और तृतीय श्रेणीका कैदी, दोनों ही जेलके अन्दर सजा भुगत रहे हैं; उसी प्रकार पापी और पुण्यवान दोनोंही भव-कारागारमें अपने-अपने कर्मफलका भोग कर रहे हैं, दोनोंही अविद्याके अधीन हैं। इसलिये भगवान यह चाहते हैं कि जीव भव-कारागारके इन दोनों प्रकारके जीवनोंको पार कर अपने शुद्ध स्वरूपसे भगवत् सेवारूप मेरी चिन्मयी लीलामें प्रवेश करे। परन्तु अज्ञानी मूढ़ जीव मायिक सुख-दुःखमय जीवनको ही भगवानकी लीला मान कर इसीमें फँसा रहकर वास्तविक जीवनसे वंचित रहता है।

जबतक मनुष्यमें भगवद्दर्शनकी तीव्र अभिलाषा पैदा न हो जाय, तबतक ऐसा समझना चाहिए कि वह अभी अज्ञानरूप अंधकारमें है। अज्ञान द्वारा मोहित कर्मी, ज्ञानी या अन्याभिलाषी व्यक्ति अपनेको चाहे जितना भी बड़ा क्यों न समझें, वे सभी परमेश्वरकी गुणमयी दुस्तरा मायाके वशीभूत हैं। ये लोग चाहे जितना भी ऊँचा क्यों न उठ जाँय, भगवानकी सेवा ग्रहण किये बिना—भगवानके शरणागत हुए बिना कदापि मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते। वे पुनः गिर पड़ते हैं।

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिन-
स्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः
पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः॥

जहाँ भगवान ही एकमात्र भोक्ता हैं, वहीं पर भगवानकी लीला है और जहाँ जीवात्मा भोक्ता है, वहीं माया है। मायातीत भगवानकी लीलाको तुच्छ बुद्धिवाले लोग समझ नहीं पाते। वे लोग अविद्या द्वारा बँधे हुए जीव (मनुष्य आदि) के कर्मफल भोगको भगवानकी लीला बतलाते हैं। भगवानकी लीला समझनेके लिये पहले ब्रह्मभूतकी अवस्था प्राप्त करनी होगी; पश्चात् भगवानकी पराभक्तिका अनुशीलन करना होगा। शुष्क और निर्विशेष ज्ञानके द्वारा भगवानकी अप्राकृत लीला करोड़ों जन्मोंमें समझी नहीं जा सकती है। इस अप्राकृत लीलाको

समझनेके लिये सम्बन्ध ज्ञानका होना अनिवार्य है। भगवत्तत्त्व, जीवतत्त्व और भगवत्शक्ति तत्त्वके यथार्थ ज्ञानको जाननेका नाम सम्बन्ध-ज्ञानको प्राप्त करना है। इसके विपरीत भगवानको मायाबद्ध मनुष्यादि मानना तथा मनुष्यके मायिक दुख भोगको भगवान्‌की लीला कहना अपराध है, जिससे जीव जन्म-जन्मांतर तक विभिन्न प्रकारकी नीच योनियोंमें भटकता हुआ दुःख भोग करता है और भगवद्दर्शन-से वंचित रह जाता है—

मोघाशा मोघकर्मा मोघज्ञाना विचेतसः।
आसुरीं राक्षसीं प्रकृतिं चैव मोहिनीं श्रिताः॥
(गीता)

—त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्ति वेदान्त स्वामी महाराज

प्रभु-मिलनकी उत्कंठा

'प्रभो! श्रीचरणोंमें एक निवेदन करना चाहता हूँ।' उत्कल सम्राटके प्रख्यात राजपण्डित सार्वभौम भट्टाचार्य हाथ जोड़ कर खड़े थे। 'यदि आप अभय प्रदान करें, तो निवेदन करूँ?'

'भय किस लिये?' महाप्रभुजीने हँसते हुए कहा। 'आप निर्भय होकर कहें। करने योग्य होने पर करूँगा और नहीं तो नहीं करूँगा।'

'प्रभो! कटकाधिपति महाराज प्रतापरुद्रजी आपके दर्शनोंके लिये बड़े उत्कंठित हैं। उन्हें एकबार अवश्य दर्शन दिया जाय।' सार्वभौम भट्टाचार्यने बड़े आग्रहसे किन्तु डरते-डरते निवेदन किया।

'नारायण! नारायण! आप पंडित होकर भी ऐसी अनुचित बात किस प्रकार कह रहे हैं?' महा-प्रभुजीने अपने कानोंमें अँगुली देते हुए कहा। विरक्त संन्यासीके लिये राज-दर्शन निषेध है। उनके लिये भोगोंमें फँसे हुए विषयी लोगों और स्त्रियोंका दर्शन विष भक्षणसे भी अधिक असाधु बतलाया गया है। विष-भक्षणसे तो मनुष्यका केवल इहलोक ही नष्ट होता है, परन्तु उन दोनोंके सेवनसे लोक और परलोक दोनों ही नष्ट हो जाते हैं। यह सब जानते हुए भी आप मुझसे राज-दर्शनके लिये आग्रह कर रहे हैं? बड़े आश्चर्यकी बात है।'

उत्कलनरेश विराट ऐश्वर्य-सम्पत्तिके मालिक होने पर भी परम भगवद्भक्त हैं। इनके दरबारमें प्रायः सत्सङ्ग होता रहता है। जगत् विख्यात श्रीजगन्नाथके वे बड़े भक्त हैं। इन्होंने श्रीजगन्नाथदेवकी सेवाके लिये अपना सारा राजकोष ही खोल रखा है। उनका साम्राज्य, धन-जन-ऐश्वर्य—सबकुछ श्रीजगन्नाथदेव-के चरणोंमें समर्पित है। जबसे इन्होंने यह सुना है कि 'श्रीचैतन्य महाप्रभुजी संन्यासीके वेशमें साक्षात् कृष्ण हैं, श्रीमतीराधाके भाव और कान्तिको धारण करके जगत्‌को अत्युज्ज्वल कृष्ण-प्रेम—जिसे इन्होंने पहले कभी भी जगतको नहीं दिया है—दान करनेके लिये आविर्भूत हुए हैं, सार्वभौम भट्टाचार्य जैसे शुष्क-ज्ञानी एवं धुरन्धर अद्वैतवादी आचार्य और राय-रामानन्द जैसे विद्वान् प्रेमी भक्त भी उनका दर्शन कर कृतार्थ हो चुके हैं—उनके चरण-कमलोंके भृङ्ग बन चुके हैं, उनके दर्शनोंसे तथा उनके मधुर कीर्त्तनों-को सुनकर मनुष्यकी तो बात ही क्या, पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग तक शरीरकी सुध-बुध बिसार कर कृष्ण-प्रेममें मत्त होकर नृत्य करने लगते हैं,'—तब से महाप्रभुके दर्शनोंके लिये वे अत्यधिक व्याकुल हो उठे हैं। इसलिये उन्होंने अपने राज-पण्डित सार्वभौम भट्टाचार्यसे अनुरोध किया था कि वे कोई ऐसा उपाय

करें जिससे महाप्रभुजी दर्शन दे सकें। सार्वभौम भट्टाचार्यजी महाप्रभुके कृपापात्र थे। सार्वभौमजी महाप्रभुके कठोर वैराग्यसे पूर्ण-रूपसे परिचित थे। फिर भी महाराजके आग्रहसे वे श्रीमन्महाप्रभुके चरणोंमें उपस्थित हुए थे।

'प्रभो! आपके वचन सर्वथा सत्य और शास्त्र-सम्मत हैं।' सार्वभौम भट्टाचार्यने बड़ी ही नम्रतासे निवेदन किया। 'परन्तु महाराज तो परम वैष्णव हैं, वे बड़ी तत्परता और श्रद्धा-भक्तिसे जगन्नाथजीकी सेवा करते हैं। इससे अतिरिक्त आपके चरणोंमें उनका दृढ़ अनुराग भी है।'

'सब कुछ है, फिर भी वे राजा हैं। राजा काल-सर्पका रूप है। जैसे काष्ठ निर्मित नारी-मूर्त्तिका स्पर्श भी चित्तमें विकार पैदा कर देता है, उसी प्रकार विषयी पुरुष—राजाके दर्शनसे भी चित्तमें विषय-भोग की लालसा उत्पन्न होती है। अतएव त्यागी पुरुषोंको इनका दर्शन नहीं करना चाहिए। आप इसके लिये मुझसे अधिक आग्रह न करें। यदि इसके लिये अधिक आग्रह करेंगे, तो मैं पुरी छोड़कर कहीं और चला जाऊँगा।'—महाप्रभुने गंभीर होकर कहा।

महाप्रभुजीकी गंभीर मुद्रा देखकर सार्वभौम भट्टाचार्य डर गये। उन्हें भय हुआ कि महाप्रभुजी वास्तवमें ही कहीं चले न जाँय। इसलिये वे उस बातको वहीं पर समाप्त कर घर लौट गये।

× × × ×

'आपने महाप्रभुजीसे मेरे सम्बन्धसे निवेदन किया था?' उत्कल नरेशने सार्वभौमके भट्टाचार्यके आते ही उत्सुकतापूर्वक पूछा। महाराज श्रीजगन्नाथदेवकी स्नान यात्राके उपलक्ष्यमें कटकसे पधारे हैं। उन्होंने पुरी पहुँचकर सबसे पहले राज-पण्डितको बुलाया है।

'राजन! मैंने श्रीमन्महाप्रभुजीसे कई बार निवेदन किया, परन्तु वे आपसे किसी प्रकार भी मिलना स्वीकार नहीं करते।' सार्वभौम भट्टाचार्यने कुछ उदास होकर कहा। 'वे कहते हैं—यदि राज-दर्शनके लिये उनसे अधिक आग्रह किया गया तो वे पुरी छोड़कर कहीं और चले जायेंगे।'

'सुना है, जगतके उद्धारके लिये ही उनका यह अवतार है।' महाराज की आँखें छलछला आयीं। मुखपर विषादकी कालिमा फैल गयी। 'उन्होंने जगाई-मधाई जैसे महापापियोंका उद्धार किया है, कुष्ठ विप्र को तारा है, फिर मुझ पापीसे ही उनको घृणा क्यों? क्या वे प्रताप रुद्रको अकेला छोड़कर बाकी समग्र जगतका उद्धार करनेकी प्रतिज्ञा करके अवतीर्ण हुए हैं? यदि उनकी ऐसी ही प्रतिज्ञा है कि वे मुझे दर्शन न देंगे, तो मेरी भी यह प्रतिज्ञा है कि या तो उनका दर्शन पाकर ही रहूँगा या इस शरीरका ही परित्याग कर दूँगा। महाप्रभुके दर्शनोंसे वंचित रहनेपर यह राज्यपद, पुत्र-परिवार, धन-सम्पति सब कुछ बेकार है।'

'देव! आप विषाद न करें।'—सार्वभौम भट्टाचार्यने राजाको सांत्वना दी। महाराजका महाप्रभुके प्रति ऐसा दृढ़ अनराग देख कर वे मन ही मन बड़े विस्मित थे। 'महाप्रभुजी बड़े दयालु और प्रेमके अधीन हैं। आपका उनके प्रति जैसा दृढ़ अनुराग है, वे आप पर अवश्य ही कृपा करेंगे। आज राय रामानन्दके मुखसे आपकी प्रशंसा सुनकर उनका हृदय आपके प्रति बहुत कुछ द्रवित हो गया है। आप एक काम कीजिए। रथ-यात्रा समीप है। उस समय महाप्रभुजी अपने समस्त भक्तोंके साथ प्रेमावेशमें नृत्य करते-करते रथके आगे चलेंगे। जब रथ बलगंडीमें पहुँचेगा, तब वे कुछ समयके लिये निकटस्थ पुष्पोद्यानमें विश्राम करेंगे। तब आप राजवेश छोड़कर अकेले उनके पास चले जाइयेगा तथा श्रीमद्भागवतसे रासपंचाध्यायीके श्लोक पढ़ते-पढ़ते उनके चरणोंको पकड़ लेना। उनका उस समय बाह्य-ज्ञान तो रहेगा नहीं, वे कृष्णनाम सुनकर आपको कोई प्रेमी भक्त समझेंगे और प्रेमसे आपका आलिंगन करेंगे। आपकी तभी सारी मनोकामनाएँ पूर्ण हो जायेंगी।'

× × × ×

'आप लोग कुछ कहना चाहते हैं?' महाप्रभुजी उन लोगोंका मनोभाव ताड़ गये थे।

सार्वभौम भट्टाचार्यको महाराज प्रताप रुद्रका

पत्र आया है। उसमें उन्होंने महाप्रभुजीके सभी भक्तों-से अनुरोध किया है कि वे लोग महाप्रभुजीको किसी प्रकार कह सुनकर दर्शन देनेके लिये अनुमति ग्रहण लें। इसीलिये नित्यानन्द प्रभु एवं राय रामानन्द, स्वरूप दामोदर आदि प्रधान-प्रधान भक्तोंको साथ लेकर सार्वभौम भट्टाचार्यजी महाप्रभुके चरणोंमें उपस्थित थे। परन्तु किसीको साहस नहीं होता था कि इस विष-यमें महाप्रभुजीसे प्रार्थना करें। वे केवल एक दूसरे-की ओर देख रहे थे और आँखों-आँखों परस्पर एक-दूसरोंको आगे बोलनेके लिये इशारा कर रहे थे।

'कहते क्यों नहीं ?' महाप्रभुने हँसकर कहा।

'हमलोगोंकी आपसे एक प्रार्थना है।' श्रीनित्या-नन्द प्रभु आगे बढ़े। 'कहनेमें भय लगता है और कहे बिना रहे भी नहीं जाता। बात यह है कि राजा प्रताप रुद्र आपके दर्शनोंके लिये अत्यधिक उत्कंठित हो रहे हैं। आखिर उनको दर्शन देनेमें आपत्ति ही क्या है ? परम वैष्णव हैं, श्रीजगन्नाथजीके एकनिष्ठ सेवक हैं। उन्होंने ऐसा संकल्प कर लिया है कि यदि उन्हें आपका दर्शन न मिला तो वे राज्य-पाट और घर-द्वार छोड़कर योगी हो जायेंगे। वे बड़े दुःखी हैं। उन पर कृपा होनी ही चाहिए।'

'आप सभी मुझे कटक ले जाकर राजासे मिलाना चाहते हैं ?' महाप्रभु गंभीर हो गये।

'आपको कहीं भी जाना नहीं पड़ेगा। यदि आज्ञा हो तो वे मन्दिरमें ही दर्शन कर सकते हैं अथवा वे साधारण वेशमें यहाँ भी आ सकते हैं।' नित्यानन्द प्रभुने नम्रतपूर्वक निवेदन किया।

'न जाने आपलोगोंको क्या सूझी है ?' महाप्रभु-जीने विवशता की हँसी हँसते हुए कहा। 'मैं संन्यास-धर्मके प्रतिकूल आचरण कैसे कर सकता हूँ ? 'साधा-रण लोग चाहे जितना भी पाप-कार्य क्यों न करें, परन्तु संन्यासीका छोटासा दोष भी लोगोंमें भारी आलोचनाका विषय बन जाता है। स्वच्छ-वस्त्र पर छोटासा दाग भी स्पष्ट दीखता है, उसी प्रकार संन्यासीका छोटासा दोष भी किसी-प्रकार छिपता नहीं। दूसरी बात, यह ठीक है कि प्रतापरुद्र सर्व-गुणसम्पन्न हैं, वैष्णव हैं, श्रीजगन्नाथजीके सेवक है, परन्तु केवल 'राजा' नाम ही उनको दूषित कर देता है, ठीक वैसे ही जैसे एक बूँद मदिरा एक घड़े दूधको नष्ट कर देती है। अतएव आप मुझसे राज-दर्शनके लिये हठ न करें।'

'आप सर्वतंत्र स्वतंत्र ईश्वर हैं, आपकी इच्छाके विरुद्ध हम कर ही क्या सकते हैं ?' नित्यानन्द प्रभुने देखा, महाप्रभुजी सम्राटके गुणोंसे द्रवित तो हो गये हैं, किन्तु लोक-शिक्षाके लिये ऊपरसे कठोर बने हुए हैं। 'अच्छी बात है, आप दर्शन न दें, परन्तु कृपा कर अपना कोई व्यवहृत वस्त्र ही उन्हें प्रदान करें। आपका वस्त्र पाकर राजाको उसीसे संतोष हो जायगा।'

'आप लोगोंकी इच्छाके विरुद्ध कर ही क्या सकता हूँ ?' महाप्रभुने स्वीकृति दे दी। नित्यानन्द प्रभुने महाप्रभुजीका बहिर्वास महाराजके पास भेजवा दिया। महाराजको महाप्रभुजीका वस्त्र पाकर बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने उस वस्त्रको बड़े सम्मानसे अपने पास रखा।

परन्तु, 'हरि-दर्शनकी प्यासी अँखियाँ' को प्रभु-दर्शनके बिना चैन कहाँ ? महाराजकी प्रभु-मिलनकी उत्कंठा दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ती गयी।

× × × ×

'वाह, वाह, आगे कहो।' महाप्रभुजीकी आँखोंसे प्रेमाश्रुकी धारा प्रवाहित हो रही है। वे अर्द्धबाह्य दशामें बलगण्डीके समीपवाले पुष्पोद्यानमें लेटे-लेटे वायु-सेवन कर रहे हैं। बीच बीचमें स्वेद, कम्प, पुलक आदि अष्ट सात्विक विकारोंका भी उनके शरीरमें उदय हो रहा है। 'फिर आगे कहो।'

रथ-यात्राका दिन है। श्रीजगन्नाथजी, श्रीबलदेव और सुभद्रादेवी तीनों तीन विशाल-विशाल रथों पर आरोहण कर गुण्डिचा-मन्दिरको शुभागमन कर रहे हैं। भारतके विभिन्न दिशाओंसे यात्रियोंकी अपार भीड़ रथोत्सवका दर्शन कर रही है। 'जय जगन्नाथ', 'जय गौरचन्द्र' के अतिरिक्त और कुछ भी सुनाई नहीं पड़ता है। जहाँ तक दृष्टि जाती है, अथाहजन-समूहका समुद्र ही लहराता दिखलायी पड़ता है। श्रीमन्महाप्रभुजी ने भक्त-मण्डलीको सात सम्प्रदाओंमें विभक्त कर रथके चतुर्दिक तुमुल संकी-

र्त्तन करनेकी आज्ञा दी। स्वयं वे अपनी अचिन्त्य शक्तिके प्रभावसे सातों सम्प्रदायोंमें एक ही समय नृत्य करने लगे। सर्वशक्तिमान स्वयं-भगवान श्री-गौरचन्द्रकी इस लीलाको केवल उनके अन्तरङ्ग भक्तजन एवं महाराज प्रतापरुद्र ही देख पाये। पुनः सातों मण्डलियोंको एकत्र कर वे उनके बीचमें अद्भुत नृत्य करने लगे। उनके अलौकिक नृत्यको देखकर और तो क्या स्वयं जगन्नाथदेव भी मुग्ध हो गये। वे अपना रथ खड़ाकर महाप्रभुजीका अद्भुत नृत्य देखने लगे। किसीने आजतक ऐसा नृत्य कभी नहीं देखा था। लोग चकित थे।

रथ धीरे धीरे बलगण्डी उपस्थित हुए। यहाँ भोग निवेदन करनेका नियम है। इसलिये रथ खड़ा हुआ। लोग अपनी-अपनी रुचिके अनुसार नैवेद्य अर्पण करने लगे।

महाप्रभुजी भीड़से निकल कर समीपके पुष्पोद्यानमें विश्राम करनेके लिये पधारे हैं। वे एक सघन छायादार वृक्षकी सुशीतल छायामें पृथ्वी पर लेटे हैं। नृत्यके परिश्रमसे उनका शरीर पसीनेसे तर हो रहा है। वे पैरोंको फैलाकर मन्द-मन्द सुगन्धित और शीतल पवनके स्पर्शसे सुख अनुभव कर रहे हैं। प्रेमावेशमें उनकी आँखें आधी खुली अवस्थामें हैं। उनके भक्तजन भी इधर-उधर वृक्षोंकी छायामें विश्राम कर रहे हैं।

इसी बीच सार्वभौम भट्टाचार्यका संकेत पाकर महाराज प्रतापरुद्र राजवेश छोड़कर साधारण वैष्णववेशमें अकेले महाप्रभुका दर्शन करनेके लिये चले। उन्होंने भक्तोंको हाथ जोड़कर प्रणाम किया, पुनः अर्द्धबाह्य अवस्थामें लेटे हुए महाप्रभुके समीप पहुँचे। पहले तो कुछ सहमे, फिर साहस कर धीरे-धीरे प्रभु के कोमल चरणोंको अपने करोंसे दबाने लगे। साथ ही श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धसे रास-लीलाके श्लोकों को मधुर स्वरसे पढ़ने लगे।

इन मधुर श्लोकोंको सुनकर महाप्रभुका भावावेश आगमें घी पड़नेकी भाँति और भी बढ़ गया। वे बार-बार 'फिर', 'आगे कहो', कहते हुए विप्रलंभ भावका आस्वादन करने लगे।

महाराजने आगे पढ़ा—

तव कथामृतं तप्त जीवनं
कविभिरीडितं कल्मषापहम्।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं
भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः॥
(श्रीमद्भागवत १०।३१।९)

'अहा! आज आपने मुझे अनेकों अमूल्य रत्न प्रदान किये।' महाप्रभुजी उपर्युक्त श्लोकको सुनकर एक दम उठ बैठे और प्रेमावेशमें महाराजका बार-बार आलिङ्गन करने लगे। 'आपके इस ऋणसे मैं कभी भी उऋण नहीं हो सकता। आप धन्य हैं। मैं इसके बदलेमें आपको क्या दूँ? मेरे पास तो केवल यही प्रेमालिङ्गन मात्र है। इसे ही आपको दे रहा हूँ। मुझ पर अहैतुकी कृपा कर कृष्णलीलामृतका पान कराने वाले आप कौन हैं? कृपया अपना परिचय प्रदान कीजिए।'

'प्रभो! यह दीन आपके दासोंका अनुदास है।' महाराज अपने अश्रुजलसे महाप्रभुके श्रीचरणोंको पखारते हुए बोले—'आज मैंने क्या नहीं पा लिया। आप कृपाकर मुझे अपने भृत्योंके भृत्यके रूपमें अङ्गीकार कीजिए। इससे अधिक मुझे और कुछ भी नहीं चाहिए।'

'आप बड़े सौभाग्यवान हैं, इधर देखिये।' महाप्रभुने अपना ऐश्वर्य प्रकट किया। राजाने देखा—महाप्रभु और कोई नहीं, साक्षात् व्रजेन्द्रनन्दन द्विभुज मुरलीधर श्रीकृष्ण ही हैं। वे कदम्ब वृक्षके नीचे गोपियोंसे परिवेष्टित होकर मुरली बजा रहे हैं। निकट ही यमुना प्रवाहित हो रही हैं। रासलीलाका सारा दृश्य उनके सामने उपस्थित हो गया। पुनः कुछ देर पश्चात् उनकी आँखें खुलीं और महाप्रभुको पहलेकी तरह सामने भावावेशमें बैठे देखा। वे महाप्रभुके चरणों में गिर पड़े। महाप्रभुने उनको उठाकर पुनः आलिङ्गन प्रदान किया और इस रहस्यको कहीं भी प्रकट करने के लिये निषेध कर महाराजको रथयात्राकी व्यवस्थाके लिये जानेकी आज्ञा दी। वे महाप्रभुको दण्डवत प्रणाम कर भक्तोंके समीप आये और हाथ जोड़कर उनकी वन्दना कर रथकी ओर चल गये।

जैव-धर्म

रस-विचार (प्रारंभिक)

लगभग एक महीनेसे विजयकुमार अनुपस्थित हैं। ब्रजनाथकी पितामहीने ब्रजनाथ और विजयकुमार दोनोंका मनोभाव समझ कर घटक ब्राह्मणके द्वारा एक सुपात्री ठीक कर ली। विजयकुमारको यह खबर भेज दी गयी। उन्होंने अपने छोटे भाईको भगिनेके विवाहकी व्यवस्था करनेके लिये बिल्वपुष्करिणी भेज दिया। शुभ दिनको शुभ लग्नमें विवाहका कार्य सम्पन्न हुआ। विवाहका कार्य सम्पूर्ण रूपसे समाप्त हो जाने पर विजयकुमार एक दिन यहाँ उपस्थित हुए। उनका चित्त परमार्थ-विषयमें विशेष रूपसे उलझा हुआ था। इसलिये वे सांसारिक कुशल-क्षेम आदिकी बातें न कर कुछ उदास होकर बैठे हैं। उनको इस प्रकार उदास बैठे देख कर ब्रजनाथने कहा—'मामा! आपका चित्त आजकल स्थिर क्यों नहीं दीखता है? आपकी आज्ञासे ही मैं संसार-शृङ्खलमें बँधा हूँ। अब आपका अपने सम्बन्धमें क्या विचार है?'

विजयकुमार बोले—'मैंने एकबार श्रीपुरुषोत्तम (श्रीजगन्नाथ देव) का दर्शन करनेके लिये श्रीधाम पुरी जानेका निश्चय किया है। कुछ ही दिनोंमें यात्रीलोग पुरी जानेवाले हैं; मैं भी उनके साथ जाऊँगा। चलो, श्रीगुरुदेवसे इसके लिये आज्ञा ले आऊँ।'

भोजनके पश्चात् तीसरे पहरमें ब्रजनाथ और विजयकुमार मायापुर उपस्थित हुए और श्रीरघुनाथदास बाबाजीके चरणोंमें प्रणाम कर पुरी यात्राके लिये उनकी आज्ञाकी प्रार्थना की।

उनकी पुरी-यात्राकी बात सुनकर बाबाजी बड़े आनन्दित हुए और स्नेहसे आर्द्र होकर बोले—'तुमलोग श्रीजगन्नाथजीका दर्शन करनेके लिये पुरी जा रहे हो, बड़ी अच्छी बात है। पुरीमें काशीमिश्र-भवनमें श्रीमन्महाप्रभुजीकी गद्दी है। वहाँ पर आजकल श्रीवक्रेश्वर पण्डितके शिष्य श्रीगोपाल गुरु गोस्वामी विराजमान हैं। तुमलोग उनका अवश्य ही दर्शन करना और उनके उपदेशोंको भक्तिपूर्वक ग्रहण करना। श्रीस्वरूप गोस्वामीकी शिक्षा आजकल उन महात्माके ही कंठमें सम्पूर्ण रूपसे विराजमान है।'

श्रीगुरुदेवकी आज्ञा पाकर वे बड़े आनन्दित होकर घर लौटे। रास्तेमें ब्रजनाथने विजयकुमारसे अनुरोध किया कि वे उनको भी अपने साथ पुरी ले चलें। विजयकुमार उनकी बातसे सहमत हो गये। दोनोंने घर पहुँचकर पुरीयात्राकी बात घरवालोंको बता दिया। ब्रजनाथकी पितामही भी उनके साथ पुरी जानेके लिये तैयार हो गयीं। अन्तमें इन तीनोंकी पुरी जानेकी बात स्थिर हुई।

पुरीमें आषाढ़के महीनेमें श्रीश्रीजगन्नाथ, श्रीश्रीबलदेव और श्रीश्रीसुभद्रादेवीकी प्रसिद्ध रथ-यात्रा निकलती है। उस समय भारतके कोने-कोनेसे धर्मप्राण जन-समूह पुरीमें उमड़ पड़ता है। इसलिये दूरके यात्री ठीक समय पर उपस्थित होनेके लिये बहुत दिन पहले ही घरसे निकल पड़ते हैं। जेठका महीना लगते ही ये लोग भी यात्रियोंके साथ पुरीके लिये रवाना हुए। कुछ दिन चलनेके पश्चात् ये लोग दाँतन पारकर जलेश्वर पहुँचे। पुनः क्षीरचोरा गोपीनाथका दर्शन कर श्रीविरजा क्षेत्रमें उपस्थित हुए। यहाँ पर नाभिगयाकी क्रिया समाप्त कर वैतरिणीमें स्नान किये। तदनन्तर कटकमें पहुँच कर श्रीगोपालजीका दर्शन किये। पश्चात् एकाम्रकाननमें श्रीलिङ्गराजका दर्शन कर श्रीक्षेत्र (पुरीधाम) में उपस्थित हुए। सभी लोग अपने-अपने पण्डोंके द्वारा

बतलाये गये स्थानोंपर ठहरे। विजयकुमार, ब्रजनाथ और उनकी पितामही हरचंडी साहीमें टिके। वे नियमानुसार समुद्र-स्नान, श्रीजगन्नाथ-दर्शन और यहाँके विभिन्न तीर्थ-स्थलोंका दर्शन, उनकी परिक्रमा एवं भोग-प्रसादका सेवन करने लगे। तीन-चार दिनोंके बाद विजयकुमार और ब्रजनाथ श्रीजगन्नाथ-देवके मन्दिरमें श्रीमन्महाप्रभुका श्रीविग्रह, उनके चरण-चिह्न और स्तंभमें उनकी अँगुलियोंके चिह्न देखे। श्रीमन्महाप्रभुजी श्रीजगन्नाथ देवका दर्शन कर प्रेमसे विह्वल हो पड़ते थे। आँखोंसे आँसूओंकी धारा बहने लगती थी। उस समय उनके स्पर्शसे चरणोंके नीचेके पत्थर पिघल जाते थे, जिससे उनपर उनके श्रीचरणोंके चिह्न अङ्कित हो जाते थे। वे उस समय जिस स्तंभका सहारा लेकर खड़े रहते, वह गरुड़-स्तंभ भी उनके प्रेमसे द्रवित हो जाता और उस पर उनकी अंगुलियोंका चिह्न पड़ जाता। इन चिह्नोंका दर्शन कर विजयकुमार और ब्रजनाथ महा-प्रेममें विह्वल हो गये। वे उसी दिन काशीमिश्रके भवनमें उपस्थित हुए। यहाँ पत्थरके द्वारा निर्मित प्रकांड भवनमें श्रीगंभीरा—जिस कोठरीमें श्रीमन्महा प्रभुजी प्रेमावस्थामें निवास करते और जिसमें प्रिय पार्षद श्रीस्वरूप दामोदर और रायरामानन्द कृष्ण-विरहमें डूबते हुए श्रमन्महाप्रभुको कृष्ण-कथा सुना सुनाकर सान्त्वना देते थे और उसमें विराजित उनके खड़ाऊँ आदिका दर्शन किये। एक ओर श्रीराधा-कान्तका मन्दिर और दूसरी ओर गोपाल गुरुगो-स्वामीकी गद्दी है। विजय और ब्रजनाथ प्रेमानन्दमें विभोर होकर गोपाल गुरुगोस्वामीके चरणोंमें गिर कर रोने लगे। गुरुगोस्वामी उनका वैसा भाव देखकर बड़े प्रसन्न हुए और उनको आलिंगन प्रदान कर अपने निकट बैठाये। अनन्तर उन्होंने कहा—'मैं तुमलोगोंका परिचय जानना चाहता हूँ।'

उनका परिचय प्राप्त करने पर गुरु गोस्वामीकी आँखोंसे प्रेमाश्रु बहने लगा। श्रीनवद्वीपका नाम सुनकर बोले—'आज श्रीधामवासीका दर्शन कर मैं धन्य हो गया। अच्छा, यह तो बतलाओ कि माया-पुरमें श्रीरघुनाथदास और गोराचाँददास आदि वैष्णवजन कैसे हैं? उनका कुशल तो है न? अहा! रघुनाथदासका स्मरण होने पर मेरे शिक्षागुरु श्रीदास-गोस्वामीका स्मरण हो आता है।' बीच ही में गुरुगोस्वामीने अपने शिष्य श्रीध्यानचन्द्रको बुलाकर कहा कि बैठे हुए दोनों महात्मा यहीं पर प्रसाद पायेंगे। श्रीध्यानचन्द्रजीने उन दोनोंको अपनी कोठरी-में ले जाकर श्रीमहाप्रसाद भोजन करवाया। वहाँ उन तीनोंमें बहुत सी बातें हुईं। विजयकुमारका श्रीमद्भा-गवतमें अगाध पाण्डित्य देखकर तथा ब्रजनाथको सर्व शास्त्रोंमें सुपण्डित जानकर ध्यानचन्द्र गोस्वामी बड़े आन्दित हुए और सारी बातें गुरुगोस्वामीजीको कह सुनाये। गुरुगोस्वामी भी उन दोनोंके पाण्डित्य की बात सुनकर प्रसन्न हुए और उन्हें अपने पास बुलाकर कहा—'तुम दोनों मेरे बड़े प्रिय हो। तुम लोग जब तक श्रीपुरुषोत्तम धाममें रहो, प्रतिदिन मुझे दर्शन दिया करना।'

विजयकुमारने बड़े ही नम्र शब्दों कहा—'प्रभो! श्रीमायापुरके श्रीरघुनाथदास बाबाजी महाशयकी हम पर बड़ी कृपा है। उन्होंने हमें बहुत कुछ शिक्षा दी है और आपके श्रीचरणोंमें उपदेश ग्रहण करनेके लिये आज्ञा दी है।'

गुरुगोस्वामी बोले—'रघुदास बाबाजी परम पण्डित हैं। तुमलोग उनके उपदेशोंका भलीभाँति पालन करना। यदि तुमलोग कुछ और भी जानना चाहते हो तो कल दो पहरके पश्चात् यहाँ आकर जिज्ञासा करना। हाँ, तुम दोनों कल यहीं पर प्रसाद-सेवा करना।' इस प्रकार कुछ देर बातचीत होने पर गुरुगोस्वामीकी आज्ञा लेकर वे दोनों हरचंडी-साहीको लौट आये।

दूसरे दिन निर्धारित समय पर विजयकुमार और ब्रजनाथ श्रीराधाकान्तमठमें उपस्थित हुए और प्रसाद-सेवा करनेके अनन्तर गुरुगोस्वामीके समीप आकर उन्हें प्रणामकर बोले—'प्रभो! हमलोग रस-तत्त्वके सम्बन्धमें जानना चाहते हैं। हमलोग आपके मुखसे कृष्णभक्ति-रसका श्रवण करनेसे कृतार्थ हो

जायेंगे। आप निमानन्द-सम्प्रदायके प्रधान-गुरु हैं एवं श्रीमन्महाप्रभुजीके स्थानमें श्रीस्वरूप गोस्वामी-की गद्दीपर जगद्गुरुके रूपमें विराजमान हैं। हम चाहते हैं, आपके मुखसे रस-तत्त्वका श्रवणकर हमारा पण्डित्य जो हममें है, सफल हो उठे।' श्रीगोपाल गुरुगोस्वामी निर्जनमें उपयुक्त शिष्योंको पाकर बड़े आनन्दित हुए और इस प्रकार कहने लगे—

जो श्रीनवद्वीप-मायापुरमें आविर्भूत होकर श्रीगौड़मण्डल, क्षेत्रमण्डल और व्रजमण्डलके भक्तों-के प्राण हैं, वे शचीनन्दन निमाई पण्डित हमलोगों-का आनन्द विधान करें। जो मधुररसकी अपनी सेवा द्वारा श्रीमहाप्रभुको सदा-सर्वदा प्रसन्न रखते—उनको आनन्द प्रदान करते, वे श्रीस्वरूपगोस्वामी हमारे अन्तःकरणमें स्फूर्त्ति लाभ करें। निमाई पण्डित जिनके नृत्यके नितान्त वशीभूत हो जाते, एवं जिन्होंने कृपाकर देवानन्द पण्डितका शोधनकर उन्हें भगवद्-भक्त बना दिया, वे वक्रेश्वर पण्डित तुमलोगोंका कल्याण करें।

रस एक अतुलनीय तत्त्व है। इसे साक्षात् पर-ब्रह्म श्रीकृष्णका लीलाविकाररूप चन्द्रोदय कहा जा सकता है। जिस समय कृष्णभक्ति बिलकुल शुद्ध होने पर क्रियाकारता लाभ करती है उस समय उसे भक्ति-रस कहा जाता है।'

व्रजनाथ—'क्या रस कोई पूर्वसिद्ध तत्त्व है?

गुरुगोस्वामी—'मैं इस प्रश्नका उत्तर केवल 'हाँ' या 'ना'—एक ही शब्दमें नहीं दे सकता। कुछ विस्तारके साथ बतला रहा हूँ, तुम समझ लेना। तुमलोगोंने अपने गुरुदेवके निकट जिस कृष्णरतिका विषय श्रवण किया है, उसे ही स्थायीभाव कहते हैं। स्थायीभावके ऊपर सामग्रीका संयोग होने पर कृष्ण-भक्तिरस होता है।'

व्रजनाथ—'स्थायीभाव और सामग्रीके सम्बन्धमें हमें कुछ विस्तारसे समझानेकी कृपा करें। भाव क्या चीज है—इसे हमने गुरुदेवसे सुना है, परन्तु ये भाव-समूह मिलकर किस प्रकार रसको उत्पन्न करते हैं—यह नहीं सुना है।'

गोस्वामी—'हाँ, साधारणतः भावरूपा भक्ति ही कृष्णरति है, जो भक्तजनके पूर्व और आधुनिक संस्कारद्वारा हृदयमें उदित होकर स्वयं आनन्दरूपा होने पर भी रसावस्थाको लाभ करती है। सामग्री चार प्रकारकी होती है—(१) विभाव, (२) अनुभाव, (३) सात्त्विक, (४) व्यभिचारी या संचारी। इन सामग्रियोंकी व्याख्या मैं पहले कर रहा हूँ। रति-आस्वादनके हेतु-स्वरूप विभाव दो प्रकारका होता है—आलम्बन और उद्दीपन। आलम्बन दो प्रकारका होता है—विषय और आश्रय। जिसमें रति होती है, वे रतिके आश्रय हैं, जिसके प्रति रति क्रियावती होती है, वे रतिके विषय हैं। रति कृष्णभक्तोंके हृदयमें रहती है, इसलिये कृष्णभक्त रतिके आश्रय हैं, एवं रति कृष्णके प्रति क्रियावती होती है, अतएव कृष्ण रतिके विषय हैं।'

व्रजनाथ—'हमने यहाँ तक तो समझ लिया कि विभाव दो भागोंमें विभक्त है—आलम्बन और उद्दी-पन। पुनः आलम्बन भी दो हैं, आश्रय और विषय। कृष्ण विषय हैं और भक्तजन आश्रय हैं। अब यह जानने की इच्छा हो रही है कि क्या कृष्ण भी कभी रतिके आश्रय होते हैं?'

गोस्वामी—'हाँ, होते हैं। भक्तजन कृष्णके प्रति जो रति करते हैं, उसमें कृष्ण विषय और भक्त आलम्बन होते हैं। पुनः जब कृष्ण भक्तके प्रति जो रति करते हैं, उसमें कृष्ण आश्रय और भक्तजन विषय होते हैं।'

व्रजनाथ—'हमने श्रीकृष्णके ६४ गुणोंके सम्बन्ध-में श्रीगुरुदेवके निकट श्रवण किया है। इसके अतिरिक्त कृष्णके सम्बन्धमें यदि कुछ बतलाने की बात हो तो कृपया बतलाइये।'

गोस्वामी—'श्रीकृष्णमें निखिल गुणावलियाँ पूर्णतम रूपमें विराजमान होने पर भी उनका द्वारका-में पूर्ण, मथुरामें पूर्णतर और गोकुलमें पूर्णतम—यह

तारतम्य गुण-प्रकाशके तारतम्यसे साधित होता है। एक ही कृष्ण लीलाके भेदसे चार प्रकारके नायक होते हैं—(१)धीरोदात्त, (२) धीरललित, (३) धीर-शान्त और (४) धीरोद्धत।'

व्रजनाथ—'धीरोदात्त किस प्रकार?'

गोस्वामी—'गंभीर, विनयी, क्षमाशील, करुण, आत्मश्लाघारहित, और अप्रकाशित गर्व—ये धीरोदात्त-नायक कृष्णके लक्षण हैं।'

व्रजनाथ—'धीरे ललित किसे कहते हैं?

गोस्वामी—'रसिकता, नवयौवन, परिहासचातुरी और निश्चिन्तता—इन गुणोंके द्वारा कृष्ण प्रेयसियों-के वशीभूत हो पड़ते हैं, इसीलिये कृष्ण धीरललित नायक हैं।'

व्रजनाथ—'धीर शान्त कैसे हैं?'

गोस्वामी—'शान्त-स्वभाव,कष्ट-सहिष्णुता, विवेचकता और विनय आदि गुणोंसे युक्त होनेके कारण कृष्ण धीरशान्त नायक हैं।'

व्रजनाथ—'धीरोद्धत कैसे हैं?'

गोस्वामी—'किसी-किसी समय लीलाभेदसे कृष्ण मात्सर्ययुक्त, अहंकारी, मायावी (छली), क्रोधी, चंचल और आत्मप्रशंसक भी दिखलाई पड़ते हैं, इसलिये वे धीरोद्धत-नायक भी हैं।'

व्रजनाथ—आपने जिन गुणोंके वर्णन किये हैं, उनमें बहुतसे परस्पर विरोधी गुण भी है, अतएव वे एक ही साथ एक ही कृष्णमें कैसे संभव है?

गोस्वामी—'कृष्ण स्वभावतः सर्वतंत्र-स्वतंत्र परम निरंकुश ऐश्वर्यवान हैं। अतएव उनकी अचिन्त्यशक्ति के प्रभावसे उपरोक्त सारे परस्पर विरोधी गुण भी कृष्णमें एक ही साथ निवास करते हैं। जैसे—

कुर्मपुराणमें—

अस्थूलश्चानणुश्चैव स्थूलोऽणुश्चैव सर्वतः।
अवर्णः सर्वतः प्रोक्तः श्यामो रक्तान्तलोचनः॥
ऐश्वर्ययोगाद्भगवान् विरुद्धार्थोऽभिधीयते।
तथापि दोषो परमे नैवाहार्याः कथञ्चन॥
गुणाविरुद्धा अप्येते समाहार्याः समन्ततः॥ (१)

महावराह पुराणमें—

सर्वे नित्याः शाश्वताश्च देहास्तस्य परात्मनः।
हानोपादानरहिता नैव प्रकृतिजाः क्वचित्॥
परमानन्दसन्दोहा ज्ञानमात्राश्च सर्वतः।
सर्वे सर्वगुणैः पूर्णाः सर्वदोष विवर्जिताः॥ (२)

वैष्णव तंत्रमें—

अष्टादशमहादोषैः रहिता भगवत्तनुः।
सर्वैश्वर्यमयी सत्य-विज्ञानानन्दरूपिणी॥ (३)

(१) भगवानमें विरोधीगुण-समूह एक ही समय अत्यन्त सुन्दररूपसे विराजित हैं। वे अस्थूल और अणु होकर भी सब तरहसे स्थूल और अणु हैं। वे प्राकृत वर्ण रहित होकर भी अप्राकृत श्यामवर्ण और रक्तान्त नेत्रवाले हैं—ऐसा शास्त्रोंमें वर्णन किया गया है। ऐश्वर्य योगके कारण भगवान विरुद्धार्थ भी कहे जाते हैं। तथापि परमेश्वरके सम्बन्धमें किसी प्रकारका दोषारोप नहीं किया जा सकता है। ये गुण-समूह परस्पर विरोधी प्रतीत होने पर भी भगवान्में सब तरहसे गुण ही कहलावेंगे।

(२) उन परमात्माके सारे शरीर ही नित्य (प्राकृत शरीरकी भाँति परिवर्त्तनशील नहीं), शाश्वत् (कभी नष्ट नहीं होनेवाले), हान अर्थात् त्याग, 'उपादान' अर्थात् ग्रहण—इन दोनों प्रकारकी क्रियाओंसे रहित अर्थात् प्राकृत शरीरकी भाँति (फटे वस्त्रकी भाँति भगवान अपने शरीरको छोड़ते नहीं हैं। भगवानके शरीर-समूह प्रकृतिसे पैदा नहीं होते हैं—वे शरीर-समूह सम्पूर्णरूपसे परमानन्द स्वरूप और चिन्मय होते हैं, उनके सारे अंग-प्रत्यंग सर्वविधि गुणोंसे परिपूर्ण और सब तरहके दोषोंसे रहित होते हैं।

(३) भगवानका शरीर अठारह प्रकारके महादोषोंसे रहित होता है। वह सबप्रकारके ऐश्वर्योंसे युक्त, सत्यविज्ञान और आनन्दरूपी होता है।

अठारह महादोष ये हैं—

मोहस्तन्द्रा भ्रमो रुक्षरसता काम उल्वणः ।
लोलता मदमात्सर्ये हिंसा खेदपरिश्रमौ ॥
असत्यं क्रोध आकांक्षा आशंका विश्वविभ्रमः ।
विषमत्वं परापेक्षा दोषा अष्टादशोदिताः ॥ (१)

— विष्णुयामल

अवतार-मूर्त्तियोंमें ये सभी सिद्ध हैं तथा अवतारी कृष्णमें परम सिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त कृष्ण में और भी आठ गुण हैं, जो उनके पुरुषसत्वके सूचक हैं; वे गुण हैं-शोभा, विलास माधुर्य, मांगल्य, स्थिरता, तेज, ललित और औदार्य। नीचोंके प्रति दया, समकक्षके प्रति स्पर्द्धा, शूरता, उत्साह, दक्षता एवं सत्यप्रकाशकी जगह शोभा परिलक्षित होती है। गम्भीरगति, धीर चितवन एवं सहास्य वचन द्वारा विलास लक्षित होता है। जहाँ चेष्टा आदि की कमनीयता प्रकाशित होती है, वहाँ माधुर्य लक्षित होता है। सम्पूर्ण जगतका विश्वास-स्थल ही मांगल्य है। किसी भी कार्यसे विचलित नहीं होना ही स्थिरता है। सबके चित्तको अपनी ओर आकर्षण करना ही तेज है। जिनमें प्रचुर शृंगार-चेष्टा है, वे ललित हैं। आत्म-समर्पण-कार्यका नाम ही औदार्य है। श्रीकृष्ण नायक-शिरोमणि हैं, इस लिए उनकी साधारण लीलामें गर्ग आदि ऋषि धर्मके विषयमें और युयुधान आदि क्षत्रिय-समूह युद्धमें तथा उद्धव आदि मन्त्रणाके विषयमें सहायकके रूपमें वर्णित हुए हैं।'

ब्रजनाथ—'कृष्णके रस-नायकत्वके सम्बन्धमें पूरी तरह समझ लिया। अब रसोपयोगी विभावके अन्तर्गत कृष्णके भक्तोंके सम्बन्धमें बतलाईये।'

गोस्वामी—'जिनका अन्तःकरण कृष्णभावसे विभावित होता है, वे ही रस-तत्त्वमें कृष्णभक्त हैं। सच बोलनेसे लेकर लज्जायुक्त (सत्यवाक्से ह्रीमान) तक जो २६ गुण कृष्णके सम्बन्धमें बतलाये गये हैं, वे सभी कृष्ण-भक्तमें पाये जाते हैं।'

ब्रजनाथ—'रसोपयोगी कृष्णभक्त कितने प्रकार के होते हैं?'

गोस्वामी—'दो प्रकारके होते हैं—साधक और सिद्ध।'

ब्रजनाथ— साधक कौन हैं?'

गोस्वामी—'कृष्णके विषयमें जिनकी रुचि तो पैदा हो गयी है, परन्तु अभी सम्पूर्णरूपसे विघ्न-बाधाएँ दूर नहीं हो पायी है, ऐसे लक्षणयुक्त भक्त कृष्ण-साक्षात्कारकी योग्यता प्राप्त कर साधक कहलाते हैं।' ईश्वरे तदधीनेषु, (२) (श्रीमद्भा० ११।२।४६) में कहे गये लक्षणोंसे युक्त मध्यम भक्तजन साधक-श्रेणीके अन्तर्गत हैं।'

ब्रजनाथ—'प्रभो! 'आर्च्चायाम हरये, (३) (श्रीमद्भा० ११।२।४७) श्लोकमें वर्णित भक्त क्या रसयोग्य नहीं हो सकते?'

गोस्वामी—'वे जब तक शुद्ध भक्तोंकी कृपासे शुद्धभक्त नहीं हो जाते, तब तक साधक नहीं हैं। बिल्वमंगल आदि की तरह व्यक्ति ही यथार्थ साधक हैं।'

ब्रजनाथ—'सिद्धभक्त कौन हैं?

गोस्वामी—'जिनको किसी भी दुःख आदिका अनुभव नहीं होता, जिनकी सारी क्रियाएँ श्रीकृष्ण के आश्रित होती हैं, जो सदा-सर्वदाप्रेम सुखका आस्वादन करते हैं, ऐसे भक्तजन सिद्धभक्त कहलाते हैं। सिद्ध भक्त दो प्रकारके होते हैं अर्थात् सम्प्राप्त सिद्ध और नित्यसिद्ध।'

ब्रजनाथ—'सम्प्राप्त सिद्ध कौन हैं?'

गोस्वामी—'सम्प्राप्तसिद्ध पुरुष भी दो प्रकार के होते है—साधनसिद्ध और कृपासिद्ध।'

ब्रजनाथ—'नित्यसिद्ध कौन हैं?'

गोस्वामी—'श्रीरूप गोस्वामीने कहा है—

(१)—मोह, आलस्य, भ्रम, निरसता, कामोग्रता, चांचल्य, मद, मात्सर्य, हिंसा, खेद, थकावट, आराम, असत्य, क्रोध, आकांक्षा, भय, जगद्भ्रम, विषमत्व और दूसरे पर निर्भर रहनेकी वृत्ति-ये अठारह महादोष हैं।

(२) १३४ पृष्ठमें देखिये।

(३) १३२ पृष्ठमें देखिये।

आत्मकोटिगुणं कृष्णे प्रेमानं परमं गताः ।
नित्यानन्द गुणाः सर्वे नित्यसिद्धा मुकुन्दवत् ॥ (१)

पद्मोत्तर खण्डमें—

यथा सौमित्रिभरतौ यथा संकर्षणादयः ।
तथा तेनैव जायन्ते निजलोकादृच्छया ॥
पुनस्तेनैव गच्छन्ति तत् पदं शाश्वतं परं ।
न कर्मबन्धनं जन्म वैष्णवानां विद्यते ॥ (२)

ब्रजनाथ—'प्रभो ! विभावके अन्तर्गत आलम्बन तो समझ गया, अब कृपया उद्दीपन किसे कहते हैं, बतलाईये ।'

गोस्वामी—'जो भावको उद्दीपन कराते हैं, उन्हें उद्दीपन कहते हैं। कृष्णके गुण, उनकी चेष्टाएँ, हास्य अंगसौरभ, वंशी, शृंग, नूपुर, शंख, पदचिह्न, क्षेत्र, तुलसी भक्त और हरिवासर आदि काल—ये सभी उद्दीपन हैं। कृष्णके गुण तीन प्रकारके होते हैं—कायिक, मानसिक और वाचिक। कायिक गुणों में वयस (उम्र) एक प्रधान गुण है। कौमार, पौगण्ड और कैशोर—ये तीन वयः (उम्र) हैं—

कौमारं पंचमाब्दान्तं पौगण्ड दशमावधि ।
आषोढशाच्च कैशोरं यौवनं स्यात्ततः परम् ॥ (३)

(भक्तिरसामृतसिन्धु १।१५८)

कैशोरावस्थाके भी तीन भेद होते हैं—आद्य मध्य और शेष। कायिक गुणोंमें सौन्दर्यका विचार प्रधान है। अंगोंके यथोचित सन्निवेशको सौन्दर्य कहते हैं। वस्त्र, सज्जा, और सँवारनेकी वस्तुओं (मण्डनादि) को 'प्रसाधन कहते हैं। कृष्णकी वंशी तीन प्रकारकी होती है—वंशी, वेणु और मुरली। वेणु—बारह अँगुली लम्बी और अगूँठेके समान मोटी होती है, इसमें छः छेद होते हैं। मुरली दो हाथ लम्बी होती है, मुखमें रन्ध्र होता है तथा इसमें चार छिद्र होते हैं। वंशीमें आधी-आधी अँगुलीके अंतर पर आठ छिद्र, दूसरी छोर पर आधी अँगुली छोड़ कर मुखरन्ध्र होता है, शिरोभाग चार अँगुली, पुच्छ तीन अँगुली, कुल मिलाकर (रन्ध्रको मिलाकर) कुल नौ छिद्र और सतरह अँगुली लम्बी होती है। कृष्णके हाथमें जो दक्षिणावर्त्त-शंख विराजमान रहता है, उसका नाम 'पांचजन्य' है। इन उद्दीपनोंके द्वारा भक्तकी रति उद्दीप्त होकर तदीय विषय श्रीकृष्णके प्रति क्रियावती होकर आस्वादनरूपा हो पड़ती है। रति ही स्थायी भाव है, वही रस होती है। अगले दिन तुम लोग इसी समय यहाँ उपस्थित होना, मैं अनुवाद आदि व्याख्याके सहित रसके सम्बन्धमें बतलाऊँगा।

गोस्वामी चरणसे विदा होकर रसके विषयमें चिन्तन करते-करते विजय और ब्रजनाथ सिद्धबकुल का दर्शन किये और वहाँसे श्रीजगन्नाथदेवका दर्शन कर अपने डेरे पर लौट आये।

---

(१)—मुकुन्द की तरह जिनके गुण नित्य और आनन्द-स्वरूप हैं, वे नित्यसिद्ध हैं। इनका प्रधान लक्षण यह है कि अपनी अपेक्षा भी कृष्णके प्रति कोटिगुण अधिक प्रेम युक्त होते हैं।

(२)—जिस प्रकार सुमित्रानन्दन लक्ष्मण और भरत, भगवान् श्रीरामचन्द्रके और जिस प्रकार बलराम आदि भगवान् श्रीकृष्णके साथ भगवान्की इच्छासे प्रपंच (संसार) में आविर्भूत होते हैं और पुनः भगवान्के साथ ही नित्य परमधाममें चले जाते हैं, उसी प्रकार यादवगण भी भगवान्की प्रकट लीलामें आविर्भूत होते हैं और अप्रकट लीलाके समय भगवान्के साथ ही परमधाममें चले जाते हैं। अतएव वैष्णवोंका प्राकृत मनुष्यकी भांति कर्मबन्धन अथवा जन्म नहीं होता।

(३)—पाँच वर्षकी उम्र तक कौमार, दस वर्ष तक पौगण्ड और सोलह वर्षकी अवस्था तक किशोरावस्था और उसके पश्चात् यौवनका वयः काल है।

सत्ताइसवाँ अध्याय

रस-विचार

दूसरे दिन प्रसाद-सेवन कर दोपहरके पश्चात् विजयकुमार और ब्रजनाथ श्रीराधाकान्त मठमें उपस्थित हुए। गोपाल गुरु गोस्वामी महाप्रसाद सेवा कर उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। श्रीध्यानचन्द्र गोस्वामी उनके समीप बैठ कर उपासनापद्धति लिख रहे थे। उस समय गुरु गोस्वामीका दर्शन अतीव अपूर्व था। संन्यास वेश, ललाट पर ऊर्द्धपुण्ड तिलक, सब अंगों पर हरिनामाक्षर, गलदेशमें मोटी-मोटी तुलसीकी चार मालाएँ, हाथमें जपकी माला, दोनों नेत्र ध्यानके आवेशमें अर्द्धमुद्रित, बीच-बीचमें नेत्र-प्रान्तसे लेकर वक्षःस्थल तक लम्बी अश्रुधारा, समय-समय पर हा गौराङ्ग ! हा नित्यानन्द !—ऐसा उच्चारण कर आह भर कर रोदन, कुछ स्थूल शरीर, उज्ज्वल श्याम वर्ण, कदलीके वल्कलासन पर बैठे हुए, कुछ दूर पर दो खड़ाऊं तथा समीप ही जलपूर्ण करङ्ग। यह सब देख कर विजय और ब्रजनाथके हृदयमें एक अभूतपूर्व श्रद्धाका भाव पैदा हुआ। वे दोनों साष्टाङ्ग प्रणाम कर बहुत देर तक जमीन पर पड़े रहे। विजय और ब्रजनाथकी विद्वता, अनेकानेक शास्त्रोंकी पारदर्शिता, वैष्णवता देख कर तथा श्रीनवद्वीपधामवासी जानकर मठके सभी लोग इन दोनोंका आदर यत्न करते थे। आज उनका वैसा वैष्णवोचित भाव देख कर बड़े आश्चर्यित हुए। उनको इस प्रकार पड़ा देख कर गुरु गोस्वामीने उन्हें उठा कर प्रेमसे आलिंगन करते हुए आपने समीप बैठाया। समय देख कर ब्रजनाथने विनयपूर्वक रसका प्रसङ्ग उपस्थित किया। गोस्वामीने प्रेमपूर्वक कहा—'आज मैं तुम लोगोंको अनुवाद आदि समझाकर रस-तत्त्वमें प्रवेश कराऊंगा। विभाव, अनुभाव, सात्त्विक और व्यभिचारी—इन चार प्रकारकी सामग्रियोंमेंसे मैं स्थायीभाव-तत्त्वको कल बतला चुका हूँ। आज पहले-पहल अनुभावकी व्याख्या कर रहा हूँ; सावधानीसे सुनना। जिसमें और जिसके द्वारा रति विभावित (उद्दीप्त) होती है, उसे विभाव बतलाया हूँ। अब जिसके द्वारा उस रतिका बोध करानेवाले चित्तके भावोंकी अनुभूति होती है, उन उद्भास्वरनामा लक्षणोंको अनुभाव कहते हैं। दूसरे शब्दोंमें चित्तके भावोंको प्रकाश करनेवाली कटाक्ष, रोमांच आदि चेष्टाओंको अनुभाव कहते हैं। वे बाह्य विकारकी तरह प्रकाशित होने पर भी चित्तके भावोंको प्रकाश करनेवाली होती हैं। नृत्य, विलुंठन (पृथ्वी पर गिर कर लोटने लगना), गान, जोरसे रोना, शरीरको मरोड़ना, हुँकार, जंभाई, दीर्घश्वास, लोकापेक्षा त्याग (लोग क्या कहेंगे-इसकी परवाह न करना), लार टपकाना, अट्टहास (जोरोंसे हंसना), घूर्णा (चक्कर आना) और हिचकी—इन बाहरी विकारों द्वारा चित्तके भाव-समूह प्रकाशित होते हैं।

ब्रजनाथ—'ये बाह्य विकार किस प्रकार आंतरिक स्थायी भावके रसास्वादनकी पुष्टि कर सकते हैं? दूसरी बात, अन्दरमें रसास्वादन होनेपर ये अनुभाव-समूह बाहर शरीरमें प्रकाशित होते हैं—अतएव ये स्वयं पृथक् सामग्री कैसे हुए ?'

गोस्वामी—'बाबा, तुम यथार्थ ही न्यायशास्त्रके पंडित हो। तुम्हारे समान सूक्ष्म प्रश्न करते मैंने आजतक किसीको भी नहीं देखा। जब मैं श्रीपण्डित गोस्वामीके पास रसशास्त्रका अध्ययन करता था, उस समय मेरे अन्दर भी ठीक ऐसा ही वितर्क उठा था; परन्तु श्रीगुरुदेवकी कृपासे यह सन्देह शीघ्र ही दूर हो गया था। इसका गूढ़ तात्पर्य यह है कि जीवके शुद्धसत्त्वमें, जो चित्तकी क्रिया है, वह जब विभावित (उद्दीप्त) होकर क्रियाकी सहायता करती है, उस समय उसमें एक ऐसा स्वाभाविक वैचित्र्य

उदित होता है, जो चित्तको विभिन्न प्रकारसे उत्फुल्ल करता है। चित्त उत्फुल्ल होने पर बाहर शरीरमें भी उसका कुछ विकार प्रकाश पाता है; इन्हीं बाह्य विकारोंको उद्भास्वर कहते हैं। वे विकार-समूह (नृत्यादि) अनेक प्रकारके होते हैं—चित्तके नृत्य करनेसे शरीर भी नृत्य करने लगता है, चित्तके गान करनेसे जिह्वा गान करती है; इसी प्रकार दूसरे विकारोंके सम्बन्धमें भी जानना चाहिए। परन्तु उद्भास्वर-क्रिया ही मूल-क्रिया नहीं है, बल्कि चित्तके विभाव-के पोषक जो अनुभाव उदित होते हैं, वे ही उद्भास्वरके रूपमें शरीरमें व्याप्त होते हैं। चित्तमें ज्योंही स्थायीभाव विभावके द्वारा भावित होता है, त्योंही चित्तकी द्वितीय क्रिया अनुभावके रूपमें कार्य करने लगती है, अतएव अनुभाव एक पृथक् सामग्री है; जब वह गीत आदिके द्वारा प्रकाशित होती है, तब उसे 'शीत' कहते हैं एवं जब वह नृत्य आदिके द्वारा प्रकाशित होती है, तब उसे 'क्षेपन' कहते हैं। शरीर-की उत्फुल्लता, रक्तोद्गम, अस्थिसन्धिवियोग (हड्डि-योंका परस्पर अलग हो जाना), सन्धिकर्षण (हड्डियोंकी ग्रन्थियोंका सिकुड़ जाना) आदि और भी अनेक प्रकारके अनुभाव-लक्षण हैं। परन्तु ये अनुभाव-लक्षण विरले ही देखे जाते हैं, इसलिये इनके सम्बन्धमें अधिक विस्तारसे नहीं बतलाया। प्राणेश्वर श्रीचैतन्य महाप्रभुके शरीरमें कुर्माकार आदि जो अत्यन्त आश्चर्यपूर्ण अनुभाव लक्षित हुए थे, वे साधक भक्तमें संभव नहीं हैं।'

गुरुगोस्वामीके इन गूढ़ उपदेशोंको सुनकर विजय और व्रजनाथ कुछ देर तक बिलकुल मौन रहे। फिर बोले—'प्रभो! सात्त्विक किसे कहते हैं?'

गोस्वामी—'कृष्ण सम्बन्धी किसी भाव द्वारा जब चित्त साक्षात् रूपमें अथवा कुछ व्यवधानके साथ उद्दीप्त होता है, तब उसी चित्तको 'सत्त्व' कहते हैं। इस सत्त्वसे जो भाव-समूह पैदा होते हैं, उन्हें सात्त्विकभाव कहते हैं; सात्त्विक भाव तीन प्रकारके होते हैं—स्निग्ध, दिग्ध और रुक्ष।'

व्रजनाथ—'स्निग्ध सात्त्विकभाव किसे कहते हैं?'

गोस्वामी—'स्निग्ध सात्त्विकभाव मुख्य और गौण भेदसे दो प्रकारका होता है। जब साक्षात् कृष्ण सम्बन्धी मुख्य रति चित्तको आक्रमण करती है, उस समय मुख्य स्निग्ध सात्त्विकभाव होता है; स्तंभ-स्वेदादि मुख्य सात्त्विक भावके अन्तर्गत हैं। जब कृष्णसम्बन्धी रति कुछ व्यवधानके साथ गौण-रूपमें चित्तको आक्रमण करती है, उस समय गौण-स्निग्ध सात्त्विकभाव होता है; वैवर्ण और स्वरभेद, ये दो गौण सात्त्विक भाव हैं। मुख्य और गौण रतिकी क्रियाके अतिरिक्त कोई दूसरा भाव चित्तको आक्रमण करने पर रतिका अनुगामी दिग्ध सात्त्विक भाव उदित होता है; कम्प ही दिग्ध सात्त्विकभाव है। जब रतिशून्य भक्तसदृश कोई व्यक्ति कृष्णके अतीव आश्चर्यजनक मधुर भावोंकी बातोंको सुनकर अत्यन्त विस्मित हो जाता है और उस समय उसमें जो आनन्द पैदा होता है, उसे रुक्ष सात्त्विकभाव कहते हैं; रोमांच 'रुक्ष' ही सात्त्विकभाव है।

व्रजनाथ—'सात्त्विक भाव कैसे उदित होते हैं?'

गोस्वामी—'जब साधकका चित्त सत्त्व भावके साथ एक होकर अपनेको प्राणके निकट समर्पण करता है, तब प्राण विकारयुक्त होकर शरीरमें प्रचुर क्षोभ पैदा करता है, उसी समय स्तंभ आदि विकार उदित होते हैं।'

व्रजनाथ—'सात्त्विक विकार कितने प्रकारके होते हैं?'

गोस्वामी—'स्तंभ, स्वेद, रोमांच, स्वरभेद, वेपथु (कम्प), वैवर्ण (विषाद, भय और क्रोध आदि द्वारा शरीरके ऊपर जो वर्ण विकार होता है जैसे—मलिनता, कृशता आदि), अश्रु और प्रलय—ये आठ सात्त्विक विकार हैं। प्राण किसी अवस्थामें दूसरे चार भूतों (भूमि, जल, तेज और आकाश) के साथ पञ्चम भूतके रूपमें अवस्थित रहता है और कभी-कभी स्वप्रधान होकर अर्थात् वायुप्रधान होकर जीवके शरीरमें विचरण करता है। जिस समय वह

भूमिस्थ होता है, तब स्तंभ (जड़ता); लक्षित होता है, जलाश्रित होने पर अश्रु, तेजस्थ होनेपर वैवर्ण एवं स्वेद या पसीना लक्षित होता है। जब वह आकाशाश्रित होता है, तब प्रलय या मूर्च्छा होती है तथा जब वह स्वप्रधान (वायुके आश्रित) होता है, तब मन्द, मध्य, तीव्र भेदसे रोमांच, कम्प और स्वरभेद विकार-समूह प्रकाशित होते हैं। ये आठों विकार बाहर और भीतर दोनों तरफ क्रियाशील रहनेके कारण कभी भाव भी कहे जाते हैं और कभी अनुभाव भी। अनुभाव-समूह केवल बाहर शरीरमें क्रियाशील रहनेके कारण सात्त्विकभाव नहीं कहलाते हैं, जैसे—नृत्य आदिमें सत्त्वसे उत्पन्नभाव साक्षात् क्रिया नहीं करता, वरन् बुद्धि द्वारा उत्तेजित क्रिया करता है। परन्तु स्तंभ आदिमें बुद्धिकी अपेक्षा न कर सात्त्विक भाव साक्षात क्रिया करता है। इसीलिये अनुभाव और सात्त्विक-भावको पृथक्-पृथक् माना गया है।

ब्रजनाथ—'स्तंभ आदि अष्ट सात्त्विक विकारोंका हेतु जानना चाहता हूँ।'

गोस्वामी—'हर्ष, भय, आश्चर्य, विषाद एवं अमर्ष (खेद, क्रोध, ग्लानि) के कारण वाक् आदि रहित जड़ताको 'स्तंभ' कहा जा सकता है। हर्ष भय और क्रोधादिके कारण शरीरकी आर्द्रता अर्थात् पसीनेको 'स्वेद' कहते हैं। आश्चर्य हर्ष, उत्साह और भयसे जो शरीरकी रोमावली खड़ी हो जाती है, उसे रोमांच कहते हैं। विषाद, विस्मय, क्रोध, हर्ष और भयसे वाणीके गद्गद् होने आदिपर स्वरभेद उदित होता है। भय, क्रोध और हर्ष आदिसे जो कँपकँपी पैदा होती है, उसे 'वेपथु' कहते हैं। विषाद, रोष, और भय आदिसे शरीका जो वर्ण विकार पैदा होता है, उसे वैवर्ण कहते हैं। हर्ष, रोष और विषाद आदि द्वारा आँखोंसे जो जल निकलता है, उसे अश्रु कहते हैं, आनन्दके आँसू शीतल होते हैं और क्रोधादिके गर्म होते हैं। सुख और दुःखद्वारा चेष्टाशून्या ज्ञानशून्यता, जड़ता, एवं भूमि पर गिर जाना आदिको प्रलय कहते हैं। सात्त्विकभाव सत्त्वके तारतम्यानुसार उत्तरोत्तर धूमायित, ज्वलित, दीप्त और प्रतीप्त—चार प्रकारके होते हैं। रुक्षसात्त्विक भाव-समूह प्रायः धूमायित हुआ करते हैं। स्निग्धभावसमूह क्रमशः ऊँची अवस्था प्राप्त करते हैं। रति ही सर्वानन्दचमत्कारका हेतु है, रतिके अभावमें रूक्षआदिमें चमत्कारिता नहीं है।'

ब्रजनाथ—'प्रभो! बड़े सौभाग्यसे सात्त्विकभाव समूह उदित होते हैं। किन्तु नाटकमें तथा संसारमें अपने कार्यकी सिद्धिके लिये बहुतसे लोग इन भावोंको दिखलाते हैं, उन लोगोंके भावोंको क्या कहा जाय?'

गोस्वामी—'सरल और शुद्धभक्तिका साधन करते-करते स्वभावतः जो सात्त्विकभाव समूह प्रकाशित होते हैं, वे वैष्णवभाव है। इसके अतिरिक्त जो सब भाव दिखलाई पड़ें, उन्हें चार भागोंमें विभक्त कर लेना। चार विभाग ये हैं—रत्याभास, सत्त्वाभास, निःसत्त्व और प्रतीप।'

ब्रजनाथ—'रत्याभास किसे कहते हैं?'

गोस्वामी—'मुक्तिकामी पुरुषोंको रत्याभास होता है। शांकर-संन्यासियोंको कृष्णकी लीला कथाओंको श्रवणकर जो भाव होता है, उसे रत्याभास कहते हैं।'

ब्रजनाथ—'सत्त्वाभास किसे कहते हैं?'

गोस्वामी—'स्वभावतः शिथिल हृदयमें कृष्णकथाका श्रवणकर आनन्द और विस्मय आदिका आभास उदित होने पर सत्त्वाभासका उदय होता है। जरन्मीमांसक और साधारण स्त्रियोंको कृष्ण-कथा सुनकर जैसा भाव होता है, उसे सत्त्वाभास कहते हैं।'

ब्रजनाथ—'निःसत्त्व-भावाभास किसे कहते हैं?'

गोस्वामी—'निसर्गवशतः पिच्छिल (गीला और चिकना अथवा फिसलने वाला) अन्तःकरण एवं नाट्य-अभिनय तथा कार्य सिद्धिके लिये जो लोग अभ्यास करते हैं, उन लोगोंको जो पुलकाश्रु आदि होते हैं, उनको निःसत्त्व कहते हैं। जो लोग वस्तुतः कठिन हृदयके हैं, परन्तु अभ्यासके द्वारा रोनेका ऐसा

अभ्यास कर लिये होते हैं कि बातकी बातमें ऐसा रोने लगते हैं मानो वे स्वाभाविक रूपमें ही रो रहे हैं, परन्तु उनका रोना सम्पूर्ण दिखावटी होता है। ऐसे लोग निसर्ग द्वारा पिच्छिलान्तःकरणवाले कहलाते हैं।'

व्रजनाथ—'प्रतीप किसे कहते हैं ?'

गोस्वामी—'कृष्णके प्रतिकूल चेष्टासे उत्पन्न क्रोध, भय आदि द्वारा जो भावाभास आदि प्रकाशित होते हैं, वे प्रतीप-भावाभास कहलाते हैं। इसका उदाहरण सहज है।'

व्रजनाथ—'प्रभो ! विभाव, अनुभाव और सात्त्विक भावोंको समझ गया, साथ ही सात्त्विकभाव और अनुभावका भेद ही समझ गया, अब व्यभिचारी भावोंका वर्णन कीजिए।'

गोस्वामी—व्यभिचारी भाव ३३ हैं। स्थायी भावके प्रति विशेष रूपसे अभिमुखी होकर ये ३३ भाव विचरण करते हैं, इसलिये इन्हें व्यभिचारी कहते हैं। ये वाणी, अंग और सत्त्व द्वारा सूचित होकर संचारित होते हैं, अतः इन्हें संचारी भाव भी कहते हैं। ये स्थायीभावरूप अमृतसागरमें लहरोंकी तरह उठकर समुद्रको ऊँचाकर पुनः उसमें मग्न हो जाते हैं। ३३ संचारी भाव ये हैं—निर्वेद (खेद या उदासीनता), विषाद, दैन्य, ग्लानि, श्रम, मद, गर्व, शंका, त्रास (भय), आवेग (उद्वेग), उन्माद, अपस्मृति, व्याधि, मोह, मृत्यु, आलस्य, जाड्य, व्रीड़ा, अवहित्था (भाव गोपन), स्मृति, वितर्क, चिन्ता, मति, धृति, हर्ष उत्सुकता, उग्रता, अमर्ष, असूया, चापल्य, निद्रा, सुप्ति और बोध। कुछ संचारी भाव स्वतंत्र हैं और कुछ परतंत्र हैं। परतंत्रसंचारी भाव वर और अवर भेदसे दो प्रकारके होते हैं। वर भी साक्षात् और व्यवहित (गौण)। स्वतंत्र संचारी भाव-समूह रति-शून्य, रत्यानुस्पर्श और रतिगंध भेदसे तीन प्रकारके होते हैं। ये समस्त भाव विपक्षोंके प्रति प्रयुक्त होने प्रातिकुल्य और अनौचित्य भेदसे दो प्रकारके होते हैं। इन सभी भावोंकी चार दशाएँ होती हैं—उत्पत्ति, संधि, शावल्य और शान्ति।'

व्रजनाथ—'भावोत्पति सहज ही समझी जा सकती है। भावसंधि किसे कहते हैं ?'

गोस्वामी—'जब एक समान अथवा भिन्न-भिन्न प्रकारके दो भाव परस्पर मिलित होते हैं तो उस मिलनको भावसन्धि कहते हैं। इष्टजात जड़ता और अनिष्टजात जड़ता एक ही समय उदित होने पर समानरूपमें भावसन्धि होती है, हर्ष और आशंका एक साथ उदित होने पर वह दो भिन्न प्रकारके भावोंका सन्धिस्थल होता है।'

व्रजनाथ—'भाव-शावल्य किसे कहते हैं ?'

गोस्वामी—'भावोंके परस्पर सम्मर्द (ठेलाठेली, संघर्ष) को भाव सावल्य कहते हैं।' कृष्णके सम्बन्धमें सुनकर कंसको क्रोध और भय होता है, यह भाव सावल्यका उदाहरण है।'

व्रजनाथ—'भावशान्ति किसे कहते हैं ?'

गोस्वामी—'एक आरुढ़ भावकी शान्ति होने उसे भावशान्ति कहते हैं। कृष्णको आस-पास न देखकर व्रजवासी बड़े चिन्तित हैं, ठीक उसी समय कृष्णकी वंशीध्वनि सुनकर उनकी चिन्ता शान्त हो गयी अर्थात् दूर हो गयी—यह विषादकी शान्ति दशा है।'

व्रजनाथ—'इस विषयमें यदि और भी कुछ बातें जानने योग्य हों तो कृपया बतलाइये।'

गोस्वामी—'इन ३३ व्यभिचारीभाव, एक मुख्य स्थायिभाव और सात गौण स्थायिभाव (जिनको पीछे बतलाऊँगा)-कुल मिलाकर ४१ भाव ही शरीर और इन्द्रियोंको विकार युक्त करते हैं। इसलिये ये भाव-जनक चित्तवृत्ति हैं अर्थात् ये भावोंके जनक—उत्पन्न करनेवाले हैं।

व्रजनाथ—'ये कौन-कौनसे भावोंके जनक हैं ?'

गोस्वामी—'ये अष्टसात्त्विक भावों तथा विभावके अन्तर्गत अनुभावोंके जनक हैं।'

व्रजनाथ—'क्या ये सभी स्वाभाविक हैं ?'

गोस्वामी—'नहीं। इनमें से कुछ स्वाभाविक हैं और कुछ आगन्तुक। जिस भक्तका जो स्थायी

भाव है, वही उसका स्वाभाविक है। व्यभिचारी भावसमूह प्रायः आगन्तुक होते हैं।

ब्रजनाथ—'क्या सभी भक्तोंके भाव समान होते हैं?'

गोस्वामी—'नहीं, भक्त विविध प्रकारके होते हैं, अतएव उनके मनोभाव भी विविध प्रकारके होते हैं। जैसा मन होता है, उसीके अनुसार भावोदयका भी तारतम्य होता है। मनके गरिष्ठ, लघिष्ठ और गंभीर तीन भेदोंके अनुसार भावोदय तीन प्रकारके होते हैं। परन्तु अमृत स्वभावतः सदा-सर्वदा द्रवीभूत होता है, कृष्णभक्तोंका चित्त स्वभावतः अमृतके समान होता है। आज यहीं समाप्त करता हूँ। कल स्थायी भावकी व्याख्या करूँगा।

विजय और ब्रजनाथ साष्टांग प्रणामकर गुरु गोस्वामीकी आज्ञा लेकर अपने डेरेको लौटे।

सत्ताइसवाँ अध्याय समाप्त

कार्त्तिक-व्रत महोत्सव

श्रीगौड़ीय-वेदान्त समितिके अधीनस्थ सभी मठोंमें इस वर्ष २६ आश्विन, १६ अक्टूबरसे २८ कार्त्तिक, १५ नवम्बर तक कार्त्तिक व्रत (दामोदर व्रत) नियमपूर्वक अनुष्ठित हुआ है। श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ मथुरामें एक महीने तक प्रतिदिन नियमानुसार श्रीविग्रह-सेवापूजा, श्रीमद्भागवत, श्रीचैतन्यचरितामृत आदि ग्रन्थोंके प्रवचन, संकीर्त्तन और भाषण आदि हुए हैं। इस अनुष्ठानके अन्तर्गत १४ कार्त्तिक, १ नवम्बरको श्रीगोवर्द्धन पूजा, अन्नकूट महोत्सव और २४ कार्त्तिक, ११ नवम्बर उत्थान एकादशीके दिन श्रीगौरकिशोरदास बाबाजी महाराजका विरह-महोत्सव विशेष समरोहके साथ अनुष्ठित हुए हैं। श्रीश्रीबाबाजी महाराजकी तिरोभाव तिथिके उपलक्ष्यमें एक सभाका आयोजन किया गया था, जिसमें त्रिदण्डिस्वामी भक्तिवेदान्त नारायण महाराजने बाबाजी महाराजकी जीवनी और शिक्षाओं पर प्रकाश डालते हुए भाषण दिया।

श्रीधाम नवद्वीपमें

श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिका दामोदर-व्रत सामुहिकरूपमें श्रीदेवानन्द गौड़ीय मठ, नवद्वीप (बंगालमें) ही अनुष्ठित हुआ है। परमाराध्यतम श्रीआचार्य देवकी अध्यक्षतामें मठके संन्यासी, ब्रह्मचारी एवं गृहस्थ भक्तोंने आदर्शरूपमें नियम सेवाका पालन किया है। इस वर्ष अनुष्ठानकी विशेषता यह रही कि इसमें श्रीश्री आचार्यदेवने एक महीने तक धाराप्रवाह रूपमें नियमानुसार श्रीश्रीव्यासदेवके वेदान्त दर्शनका प्रवचन और व्याख्या की है। अपनी अगाध पाण्डित्यपूर्ण व्याख्यामें उन्होंने वेदान्तके श्रीरामानुजभाष्य, श्रीमध्वभाष्य, निम्बार्क भाष्य, भास्कर-भाष्य, विज्ञान-भिक्षु-भाष्य, वल्लभभाष्य और शंकरभाष्य आदि भाष्योंसे श्रीगौड़ीय वेदान्ताचार्य श्रीबलदेव विद्याभूषण प्रभुके श्रीगोविन्द-भाष्यकी सिद्धान्तपरता, श्रेष्ठता और शास्त्रानुकूलता स्थापितकी। उनका तुलनामूलक विचार इतना स्पष्ट, हृदयग्राही, युक्तिसंगत, सरस और शास्त्रमूलक होता था कि साधारण लोग भी इतने बड़े गम्भीर विषयको आसानीसे हृदयङ्गम कर लेते थे। उल्लेखनीय है, इस अनुष्ठान में मठके संन्यासी, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और गृहस्थ भक्तोंके अतिरिक्त स्थानीय अनेक विद्वान व्यक्ति भी प्रतिदिन नियमितरूपमें वेदान्तकी व्याख्या सुननेके लिये उपस्थित होते थे।